खंड IV

धार्मिक विचारधाराएँ एवं दृश्य संस्कृति

समय रेखा
भक्ति परंपरा
वैष्णव भक्तिः उत्तर भारत
वैष्णव भक्तिः बंगाल
भक्ति आंदोलनः महाराष्ट्र
सूफ़ी परंपरा
सुहरावर्दी *सिलसिला*
चिश्ती *सिलसिला*
कला तथा स्थापत्य
मंदिर
नवीन संरचनात्मक रूपः मेहराब तथा गुम्बद
इस्लामिक सुलेखन कला
मस्जिद
दरगाह
मकबरा
राजमहल
किला

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

फोटोग्राफ : दौलताबाद का किला
साभार : **aak.jain54; august 2012; cc-by-sa 3.0**
स्रोत : **https://commons.wikimedia.org/wiki/file:daulatabad_fort_a_view.jpg**

इकाई 14 भक्ति परंपरा*

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि

14.3 उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन

14.4 भक्ति आंदोलन का उदय

- 14.4.1 भक्ति आंदोलन के उदय के राजनीतिक कारण
- 14.4.2 सामाजिक-आर्थिक कारण

14.5 प्रमुख लोकप्रिय आंदोलन और उनकी विशेषताएँ

- 14.5.1 उत्तर भारत का एकेश्वरवादी आंदोलन
- 14.5.2 समान स्वरूपगत विशेषताएँ
- 14.5.3 उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति आंदोलन
- 14.5.4 बंगाल में वैष्णव भक्ति आंदोलन
- 14.5.5 महाराष्ट्र में भक्ति आंदोलन
- 14.5.6 अन्य प्रदेशों में भक्ति आंदोलन

14.6 अन्य परम्पराओं और आन्दोलनों का प्रभाव

- 14.6.1 लोकप्रिय एकश्वेरवादी संत और रामानंद
- 14.6.2 एकश्वेरवादी संतों पर नाथपंथी आंदोलन का प्रभाव
- 14.6.3 इस्लामी विचारधारा का प्रभाव और सूफ़ी मत की भूमिका
- 14.6.4 हिंदू धर्म को इस्लाम की चुनौती संबंधी विचारधारा

14.7 सारांश

14.8 शब्दावली

14.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.10 संदर्भ ग्रंथ

14.11 शैक्षणिक वीडियो

14.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आपः

- भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि को रेखांकित कर सकेंगे,
- उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन के प्रमुख राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक कारकों को पहचान सकेंगे,
- इस आंदोलन के प्रमुख संतों और प्रमुख लोकप्रिय शाखाओं का उल्लेख कर सकेंगे,
- भक्ति आंदोलन की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कर सकेंगे, और
- भक्ति आन्दोलन पर इस्लाम तथा अन्य परम्पराओं के प्रभाव पर प्रकाश डाल सकेंगे।

* प्रो. आर. पी. बहुगुणा, इतिहास तथा संस्कृति विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली। यह इकाई इग्नू के पाठ्यक्रम ई.एच.आई.,03: *भारतः 8वीं सदी से 15वीं सदी तक*, खंड 8, इकाई 29 से ली गई है।

14.1 प्रस्तावना

एक धार्मिक अवधारणा के रूप में भक्ति का अर्थ है, मोक्ष की प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत तौर पर पूजे जाने वाले सर्वोच्च ईश्वर के समक्ष भक्तिपूर्ण आत्मसमर्पण। इस सिद्धांत का उद्‌भव प्राचीन भारत की ब्राह्मणवादी और बौद्ध दोनों परंपराओं में ढूँढा जाता है, इनका मूल *गीता* जैसे ग्रंथों से भी संबद्ध है। पर पहली बार दक्षिण भारत में 7वीं और 10वीं शताब्दी के बीच भक्ति धार्मिक सीमाओं से निकलकर धार्मिक समानता के जन आंदोलन में परिणित हो गई। इसमें समाज के विभिन्न तबकों ने हिस्सा लिया। संतों और कवियों के नेतृत्व में आंदोलन आगे बढ़ा और 10वीं शताब्दी में यह अपने सर्वोच्च शिखर पर जा पहुँचा। इसके बाद इसकी अवनति आरंभ हो गई। परन्तु 11वीं शताब्दी में घुमक्कड़ साधु-संतों/*आचार्यों* ने इसे दार्शनिक और वैचारिक आंदोलन के रूप में पुनर्जीवित किया। रामानुजाचार्य से इस परंपरा की शुरुआत हुई। 13वीं शताब्दी के आरंभ में दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ एक विशाल क्षेत्र में फैले विभिन्न प्रकार के सामाजिक-धार्मिक आंदोलन की शुरुआत हुई। भक्ति आंदोलन के रूप में जाना जाने वाला यह आंदोलन देश के कोने-कोने में फैल गया। इन आंदोलनों को दक्षिण भारत के पुराने भक्ति आंदोलन से जोड़ा जाता है। पर सल्तनत काल में पनपने वाला भक्ति आंदोलन अपने समय की उपज था, इसका ऐतिहासिक संदर्भ अलग था, और इसकी कुछ खास विशेषताएँ थी। उनमें से एक निराकार एकेश्वरवादी आंदोलन, जिसके अगुवा कबीर और 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न जाति' के अन्य संत थे, को छोड़कर निश्चित रूप से यह पारंपरिक भक्ति आंदोलन से बिल्कुल अलग ढंग का था इनमें केवल कुछ ऊपरी समानताएँ थी। इसका सामाजिक आधार, इसकी विचारधारा, इसके नेताओं का सामाजिक आधार और यहाँ तक कि भक्ति और ईश्वर संबंधी इनकी अवधारणा प्राचीन दक्षिण भारतीय भक्ति आंदोलन और समकालीन अन्य आंदोलनों से भिन्न थी। भक्ति आंदोलन की विभिन्न शाखाओं के बीच इस कदर अंतर है (कहीं-कहीं आधारभूत अंतर भी है) कि इन पर अलग-अलग विचार करना जरूरी है। इससे इनकी विशेषताओं को अलग-अलग पहचानने में सुविधा होगी और हम उनके बीच की समानता और असमानता को समझ सकेंगे।

14.2 दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि

7वीं और 10वीं शताब्दी के बीच दक्षिण भारत के शैव नयनार संतों और वैष्णव आलवार संतों ने जाति और लिंग का भेद किए बिना समाज के हर एक तबके में भक्ति के सिद्धांत का प्रचार किया। इनमें से कुछ संत महिलाएँ थीं और कुछ 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न जातियों' का भी प्रतिनिधित्व करते थे। इन संत कवियों ने भावनात्मक स्वर में भक्ति का प्रचार किया और धार्मिक समतावाद को बढ़ावा दिया। उन्होंने अनुष्ठानों का बहिष्कार किया और घूम-घूमकर नाच-गाकर भक्ति का प्रचार किया। आलवार और नयनार संत भक्ति का प्रचार और भक्ति गीतों की रचना संस्कृत में नहीं बल्कि तमिल में किया करते थे। इन कारणों से यह आंदोलन बड़ा लोकप्रिय हुआ। पहली बार भक्ति को जनाधार प्राप्त हुआ।

दक्षिण भारत के भक्ति संत बौद्धों और जैनों के आलोचक थे। बौद्धों और जैनों को उस समय दक्षिण भारतीय राजाओं का संरक्षण प्राप्त था और दरबारों में उन्हें एक विशेष हैसियत प्राप्त थी। बौद्ध और जैन धर्म में अब तक कुछ संकीर्ण और रूढ़िवादी तत्व प्रवेश कर चुके थे। अतः उन्होंने बौद्ध और जैन धर्म के अनेक अनुयायियों को अपनी (भक्ति की) ओर आकर्षित किया। इसके साथ-साथ भक्ति संत कवियों ने कट्टर ब्राह्मणों के अस्तित्व को चुनौती दी और भक्ति को सबके लिए सुलभ बनाया, बिना किसी जाति अथवा लिंग के भेदभाव के। दक्षिण भारत के भक्ति आंदोलन की अपनी कुछ सीमाएँ थीं। इसने कभी भी सामाजिक स्तर पर ब्राह्मण धर्म की वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था का प्रयत्नपूर्वक विरोध नहीं किया। जाति व्यवस्था अभी भी धर्म से जुड़ी थी और 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न जातियों' को अभी भी सामाजिक असमानताओं का बोझ ढोना पड़ रहा था। ब्राह्मणवादी अनुष्ठान, जैसे मूर्ति पूजा, वैदिक मंत्रों का उच्चारण और तीर्थस्थलों की यात्रा, अभी भी कायम थे, जबकि भक्ति को पूजा का सर्वश्रेष्ठ तरीका बताया जा रहा था। इन्होंने बौद्धों और जैनों पर मुख्य रूप से आक्रमण किया, ब्राह्मण इनकी आलोचना से मुक्त रहे। शायद यही कारण है कि दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन के प्रसार में ब्राह्मणों के प्रभुत्व वाले मंदिरों की प्रमुख भूमिका रही।

चूँकि दक्षिण भारत के संत-कवियों ने जाति व्यवस्था के वैचारिक और सामाजिक आधार पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाया, परिणामस्वरूप दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन के दौरान जाति व्यवस्था कमजोर होने के बजाय मजबूत हुई। अंततः यह आंदोलन 10वीं शताब्दी में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा और शनैः शनैः परंपरागत ब्राह्मण धर्म में विलीन हो गया। इन सीमाओं के बावजूद अपने उत्कर्ष काल में दक्षिण भारतीय भक्ति आंदोलन ने धार्मिक समानता के सिद्धांत का प्रचार किया, परिणामस्वरूप ब्राह्मणों को 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न जातियों' को पूजा का अधिकार देना पड़ा। ये 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न जातियाँ' पूजा के माध्यम के रूप में भक्ति को अपना सकती थीं और यहाँ तक कि *वेद* का अध्ययन करने का अधिकार भी इन्हें प्राप्त हो गया।

भक्ति और दक्षिण भारतीय *आचार्य*

जब दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन की लोकप्रियता क्षीण हो रही थी, तब कई विद्वान ब्राह्मणों (*आचार्यों*) ने दार्शनिक स्तर पर भक्ति का समर्थन किया। इसमें पहले *आचार्य* रामानुज (11वीं शताब्दी) थे। उन्होंने भक्ति को दार्शनिक आधार प्रदान किया। उन्होंने कट्टर ब्राह्मणवाद और लोकप्रिय भक्ति आंदोलन, जिसके द्वार सबके लिए खुले थे, के बीच सावधानी से संतुलन कायम किया। हालांकि 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न जातियों' द्वारा *वेद* पढ़ने के सिद्धांत का उन्होंने समर्थन नहीं किया, पर इस बात को स्वीकार किया कि भक्ति को पूजा की पद्धति के रूप में सबको, यहाँ तक कि शूद्रों और अस्पृश्यों को भी, अपनाने का अधिकार होना चाहिए। भक्ति का प्रचार करते समय उन्होंने जाति का बंधन स्वीकार नहीं किया और यहाँ तक कि अस्पृश्यता को समाप्त करने की कोशिश की। एक तेलुगु ब्राह्मण निंबार्क, रामानुज के समकालीन माने जाते हैं। उन्होंने अपना अधिकांश समय उत्तर भारत में मथुरा के निकट वृंदावन में बिताया। वे राधा और कृष्ण के प्रति पूर्ण समर्पण में विश्वास रखते थे। दक्षिण के एक अन्य वैष्णव भक्ति दार्शनिक थे माधव, इनका काल 13वीं शताब्दी का माना जाता है। रामानुज के पथ का अनुसरण करते हुए उन्होंने भी शूद्रों द्वारा *वेदों* को न पढ़ने की परंपरा को तोड़ने की कोशिश नहीं की। उनके अनुसार भक्ति ने शूद्रों को पूजा का एक विकल्प प्रदान कर दिया। उनका दर्शन *भागवत् पुराण* पर आधारित था। ऐसा माना जाता है कि उन्होंने उत्तर भारत का भ्रमण भी किया था। वैष्णव *आचार्यों* की श्रृंखला में अंतिम दो *आचार्य* रामानंद (14वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और 15वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) और वल्लभ (15वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और 16वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) उल्लेखनीय हैं। चूंकि इन्होंने अपना अधिकांश जीवन सल्तनत काल के दौरान उत्तर भारत में बिताया और वैष्णव भक्ति को एक नया रूप प्रदान किया इसलिए इन पर उत्तर भारत वाले अंश में विस्तार से विवेचना की जाएगी।

14.3 उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन

सल्तनत काल (13-15वीं शताब्दी) के दौरान उत्तरी और पूर्वी भारत तथा महाराष्ट्र में कई लोकप्रिय सामाजिक-धार्मिक आंदोलन उभरे। इन आंदोलनों ने भक्ति और धार्मिक समता पर जोर दिया। जैसा कि हम पढ़ चुके हैं, दक्षिण भारतीय भक्ति आंदोलन में भी यह विशेषताएँ शामिल थीं। सल्तनत काल के दौरान होने वाले सभी भक्ति आंदोलनों का संबंध एक या दूसरे दक्षिण भारतीय वैष्णव *आचार्य* के साथ रहा है। इन्हीं कारणों से कई विद्वान यह मानने लगे हैं कि सल्तनत काल में पनपे भक्ति आंदोलन पुराने भक्ति आंदोलन की कड़ी थे या वह पुनर्जीवित हो उठे थे। उनका तर्क है कि विभिन्न संपर्क और लेन-देन में इन दोनों में एक दार्शनिक और वैचारिक समानता है। अतएव, यह माना जाता है कि उत्तर भारत के निरीश्वरवादी एकेश्वरवादी आंदोलन से जुड़े कबीर और अन्य संत रामानंद के शिष्य थे और रामानंद रामानुज के दार्शनिक सिद्धांत के अनुयाई थे। यह भी माना जाता है कि बंगाल के वैष्णव आंदोलन के महत्वपूर्ण संत चैतन्य, माधव के दार्शनिक मत के अनुयाई थे। 'कृष्ण' भक्ति पर जोर देने के कारण इस आंदोलन का संबंध निंबार्क संप्रदाय से भी जोड़ा जाता है।

निस्संदेह दक्षिण भारत की अपेक्षाकृत पुरानी भक्ति परंपरा और सल्तनत तथा मुगल काल में पनपे धार्मिक आंदोलन में कुछ महत्वपूर्ण समानताएँ हैं। अगर हम कबीर, नानक और 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न जातियों' के अन्य संतों के एकेश्वरवादी आंदोलनों को अलग कर दें, तो दोनों आंदोलनों (दक्षिण और उत्तर) में कई सामान्य विशेषताएँ रेखांकित की जा सकती हैं। मसलन, दक्षिण भारत

के भक्ति आंदोलनों में समतावादी धर्म की तो वकालत की गई, पर जाति व्यवस्था को कभी नकारा नहीं गया, ब्राह्मण ग्रंथों और ब्राह्मण विशेषाधिकारों को कभी चुनौती नहीं दी गई।

परिणामस्वरूप, दक्षिण भारतीय भक्ति आंदोलनों के समान उत्तर भारत के अधिकांश वैष्णव आंदोलन अंततः ब्राह्मण धर्म में विलीन हो गए, पर इस प्रक्रिया में ब्राह्मण धर्म में भी कई परिवर्तन आए। पर इसके आगे दोनों आंदोलनों में कोई समानता नहीं है। भक्ति आंदोलन कभी भी एक आंदोलन नहीं रहा, इन आंदोलनों को एक दूसरे से जोड़ने वाला सूत्र भक्ति और धार्मिक समता का सिद्धांत था। मध्यकालीन भारत का भक्ति आंदोलन अपेक्षाकृत पुराने दक्षिण भारतीय आंदोलन से विशिष्ट ही नहीं था, बल्कि इन आंदोलनों की अपनी-अपनी निजी विशेषताएँ थीं। इन सभी आंदोलनों की अपनी क्षेत्रीय पहचान थी और इनका अपना सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक आधार था। अतएव लोकप्रिय एकेश्वरवाद पर आधारित निरीश्वरवादी आंदोलन निश्चित रूप से विभिन्न वैष्णव भक्ति आंदोलनों से भिन्न था। कबीर की भक्ति की अवधारणा और चैतन्य या मीराबाई जैसे मध्यकालीन वैष्णव संतों की भक्ति की अवधारणा में आधारभूत अंतर था।

वैष्णव आंदोलन के अंतर्गत भी महाराष्ट्र प्रदेश की भक्ति बंगाल के वैष्णव आंदोलन से भिन्न थी, इसी प्रकार उत्तर भारत के रामानंद, वल्लभ, सूरदास और तुलसीदास के भक्ति आंदोलन का अपना अलग स्वरूप था। कुछ समय बाद एक-एक संतों और मतों को लेकर अलग-अलग संप्रदाय खड़े हो गए, इन संप्रदायों में आपसी संघर्ष हुआ करता था और कभी-कभी यह संघर्ष हिंसक भी हो जाया करता था। 14वीं और 17वीं शताब्दी के बीच पनपे सभी भक्ति आंदोलनों में कबीर, नानक, सूरदास और अन्य वर्णाश्रम के अनुसार 'निम्न' जातियों के संतों के नेतृत्व में हुए लोकप्रिय एकेश्वरवादी आंदोलन मूलतः अन्य से अलग और विशिष्ट थे।

लोकप्रिय एकेश्वरवादी आंदोलन और वैष्णव भक्ति आंदोलन

उत्तर भारत में दिल्ली सल्तनत की स्थापना और इस्लाम के आगमन के बाद ये दोनों आंदोलन एक साथ उभरे। अतएव, यह कहा जाता है कि दोनों आंदोलनों के उद्भव में कुछ समान कारण कार्यरत थे, हिंदू धर्म पर इस्लाम का प्रभाव इनमें से एक है। पर यथार्थ यह है कि दोनों आंदोलनों के उदय के कारण और स्रोत ही अलग नहीं हैं, बल्कि उन पर जिन कारकों का प्रभाव पड़ा वे भी बिल्कुल एक दूसरे से विपरीत हैं। आगे आने वाली परिचर्चा से यह स्पष्ट हो जाएगा कि एक आंदोलन के मूल में कार्यरत शक्तियों के आधार पर दूसरे आंदोलनों का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है। यही कारण है कि लोकप्रिय एकेश्वरवादी आंदोलनों का उदय और उत्कर्ष सल्तनत काल में हुआ, जबकि वैष्णव आंदोलनों की शुरुआत तो सल्तनत काल में हुई, पर मुगल काल में जाकर वे अपने उत्कर्ष पर पहुँचे।

बोध प्रश्न-1

1) भक्ति आंदोलन की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित में से प्रत्येक पर दो पंक्तियाँ लिखिए।

क) रामानुज .....

.....

ख) निम्बार्क .....

.....

ग) वल्लभाचार्य .....

.....

घ) चैतन्य .....

.....

ड.) माधवाचार्य .....

.....

14.4 भक्ति आंदोलन का उदय

उत्तर भारत में 14वीं-17वीं शताब्दी के बीच उदित भक्ति आंदोलन, जिससे काफी संख्या में लोग प्रभावित हुए, के उदय के अनेक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक कारण थे। इस भाग में हम इन्हीं बातों पर विचार-विमर्श करेंगे।

14.4.1 भक्ति आंदोलन के उदय के राजनीतिक कारण

यह माना जाता है कि तुर्कों के आक्रमण के पहले उत्तर भारत के सामाजिक-धार्मिक क्षेत्र पर राजपूत-ब्राह्मण गठबंधन का वर्चस्व था, जो किसी भी प्रकार के गैर-ब्राह्मण आंदोलन के सख्त खिलाफ थे। अतः उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन अपनी जड़ें नहीं जमा सका। तुर्कों के आक्रमण के बाद इस गठबंधन का वर्चस्व समाप्त हो गया। तुर्कों के आक्रमण के साथ इस्लाम का भी आगमन हुआ और इससे ब्राह्मणों की शक्ति और प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचा। इस प्रकार निरीश्वरवादी आंदोलनों के उदय का रास्ता साफ हो गया, इन आंदोलनों ने जाति-विरोधी और ब्राह्मण विरोधी सिद्धांत अपनाए। ब्राह्मण हमेशा जनता को यह विश्वास दिलाने की कोशिश करते रहते थे कि मंदिर में रखी प्रतिमाएँ और मूर्तियाँ मात्र ईश्वर की प्रतीक नहीं है, बल्कि साक्षात् ईश्वर हैं और इन्हें केवल वे (ब्राह्मण) ही प्रसन्न कर सकते हैं। तुर्कों ने ब्राह्मणों से उनके मंदिर का धन छीन लिया और उन्हें प्राप्त होने वाला राज्य संरक्षण समाप्त हो गया। इस प्रकार ब्राह्मणों को आर्थिक और वैचारिक दोनों स्तरों पर हानि उठानी पड़ी। राजपूत-ब्राह्मण गठबंधन की क्षीण होती शक्ति के कारण पहला निरीश्वरवादी पंथ नाथपंथी के रूप में उभरा। ऐसा प्रतीत होता है कि यह पंथ सल्तनत काल के आरंभ में अपने उत्कर्ष पर था। ब्राह्मणों की शक्ति और प्रभाव के क्षीण होने और नई राजनीतिक परिस्थिति के कारण लोकप्रिय एकेश्वरवादी आंदोलनों और उत्तर भारत के अन्य भक्ति आंदोलनों के उदय के लिए एक माहौल तैयार हो गया।

14.4.2 सामाजिक-आर्थिक कारण

यह भी माना जाता है कि मध्यकालीन भारत का भक्ति आंदोलन सामंती शोषण के खिलाफ आम जनता के मनोभावों का प्रतिनिधित्व करता है। इस बात की पुष्टि के क्रम में कबीर, नानक, चैतन्य, तुलसी, आदि की उन कविताओं को उद्धृत किया जाता है जिसमें सामंत-विरोधी स्वर काफी तीव्र हैं। इसी परिपेक्ष्य में भारतीय मध्यकालीन भक्ति आंदोलनों की तुलना यूरोप के प्रोटेस्टेंट सुधार आंदोलन से की जाती है। पर भक्ति संतों की कविताओं में कहीं भी इस बात का संकेत नहीं मिलता है कि उन्होंने सामंती व्यवस्था के राजस्व-शोषण के खिलाफ किसानों के वर्ग हित का समर्थन किया था। वैष्णव भक्ति संत कट्टर ब्राह्मणवादी परंपरा से इसी मायने में अलग थे कि वे भक्ति और धार्मिक समता की बात करते थे। सामान्य तौर पर वे कट्टर ब्राह्मण धर्म के अनेक आधारभूत सिद्धांतों को स्वीकार करते थे। अपेक्षाकृत अधिक प्रगतिशील एकेश्वरवादी संतों ने ब्राह्मण धर्म की कटु आलोचना की, पर उन्होंने भी कभी भी राज्य और शासक वर्ग को उखाड़ फेंकने की बात नहीं की। इसलिए भारतीय भक्ति आंदोलन की तुलना यूरोपीय प्रोटेस्टेंट सुधार आंदोलन से नहीं की जा सकती है जिसने समाज को इस कदर बदल डाला कि सामंतवाद के पतन और पूँजीवाद के उदय के लिए एक माहौल तैयार हो गया।

इसका यह मतलब नहीं है कि भक्ति संत जनता के दुःख-दर्द से बिल्कुल अछूते थे। उन्होंने हमेशा अपने को जनता के दैनिक जीवन से जोड़कर रखा और इस बात की पूरी कोशिश की कि आम जनता की तकलीफों को उजागर किया जाए और उनसे जुड़ कर रहा जाए।

आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन

कबीर, नानक, धन्ना, पीपा, आदि संतों के एकेश्वरवादी आंदोलन की व्यापक लोकप्रियता को व्याख्यायित करने के लिए उत्तर भारत में तुर्कों के आगमन के बाद आए सामाजिक-आर्थिक बदलावों को परखना होगा। तुर्कों का शासक वर्ग राजपूतों की तरह गाँव में नहीं शहरों में रहता था। कृषि अधिशेष का अधिकांश हिस्सा शासक वर्ग के खजाने में पहुँच जाता था। इस वर्ग ने उपभोक्ता

वस्तुओं, विलासिता के सामान और अन्य जरूरत के सामानों की माँग बहुत बढ़ा दी। इस कारण से शिल्प की नई तकनीकों का बड़े पैमाने पर विकास हुआ। फलस्वरूप 13वीं-14वीं शताब्दियों में शहरी शिल्पकारों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई।

समृद्ध होता हुआ शहरी वर्ग एकेश्वरवादी आंदोलन की ओर आकर्षित हुआ, क्योंकि यह धार्मिक समता की बात करता था, और अब वे परंपरागत ब्राह्मणवादी व्यवस्था में प्राप्त अपने निम्न स्थान से संतुष्ट नहीं थे। इसी कारण से पंजाब के खत्री जैसे व्यापारिक समुदाय, जिन्हें शहरों के विकास, शहरी शिल्प के उत्पादन और बाजार के विकास से काफी फायदा हुआ था, इस आंदोलन की ओर तेजी से खिंचे। समाज के ऐसे अनेक वर्गों के समर्थन के कारण ही एकेश्वरवादी आंदोलन इतना लोकप्रिय हो सका। समाज के इन्हीं विभिन्न वर्गों ने उत्तर भारत में हो रहे इस आंदोलन को सामाजिक आधार प्रदान किया। पंजाब में यह आंदोलन शहरी वर्गों तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि इसने जाट किसानों को भी प्रभावित किया और इसका आधार विस्तृत हुआ। गुरु नानक के आंदोलन को जाट किसानों का समर्थन मिलने के बाद सिख धर्म एक जन-धर्म के रूप में विकसित हुआ।

14.5 प्रमुख लोकप्रिय आंदोलन और उनकी विशेषताएँ

इस भाग में हम अपने अध्ययन काल के दौरान उत्तर भारत, महाराष्ट्र और बंगाल में हुए प्रमुख एकेश्वरवादी और वैष्णव आंदोलनों की चर्चा करेंगे।

14.5.1 उत्तर भारत का एकेश्वरवादी आंदोलन

15वीं शताब्दी के दौरान शुरू होने वाले एकेश्वरवादी आंदोलनों में निस्संदेह कबीर (*c.* 1440-1518) प्रथम और सर्वप्रमुख शख्सियत थे। वे बुनकरों (जुलाहों – वह स्वदेशी समूह जिसने इस्लाम धर्म अपना लिया था) के एक परिवार से संबंधित थे। कबीर ने अपनी जिंदगी का अधिकांश हिस्सा बनारस (काशी) में बिताया। कबीर के बाद के एकेश्वरवादी संतों ने या तो उन्हें अपना गुरु माना या वे उनका नाम आदर से लेते थे। उनके '*शबद*' सिख धर्म ग्रंथ ***आदि ग्रंथ*** में काफी बड़ी संख्या में संगृहीत हैं। इससे एकेश्वरवादियों के बीच उनके महत्व का पता चलता है। रैदास या रविदास कबीर के बाद की पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे जाति से चर्मशोधक (चमड़े का कार्य करने वाले) थे। उन्होंने भी बनारस में अपना जीवन बिताया और वे कबीर के विचारों से प्रभावित थे। धन्ना का काल 15वीं शताब्दी है। राजस्थान के एक जाट किसान परिवार में उनका जन्म हुआ था। इस काल के अन्य संतों में सेन (नाई) और पीपा महत्वपूर्ण हैं।

गुरु नानक (1469-1539) ने भी कबीर और अन्य एकेश्वरवादियों के समान ही अपने मत का प्रचार किया, पर कई कारणों से उनकी शिक्षा से बाद में एक जन आधारित धर्म, सिख धर्म, का उदय हुआ। कबीर और अन्य संतों के साथ उनकी शिक्षा में आधारभूत समानता है और साथ ही वैचारिक स्तर पर भी आधारभूत समानता के कारण नानक एकेश्वरवादी आंदोलन से खुद-ब-खुद जुड़ जाते हैं। उनका जन्म पंजाब के एक खत्री परिवार में हुआ था। उनके जन्म स्थान को अब ननकाना साहिब के नाम से जाना जाता है। प्रौढ़ वय प्राप्त कर लेने के बाद अपने मत का प्रचार करने के लिए उन्होंने खूब यात्राएँ कीं। अंत में उन्होंने पंजाब में एक जगह पर अपना डेरा बसा लिया, इसे डेरा बाबा नानक के नाम से जाना जाता है। यहाँ उनके शिष्यों में तेजी से वृद्धि हुई। उनके '*शबदों*' को 1604 में सिख गुरु अर्जन देव ने *आदि ग्रंथ* में संकलित किया।

14.5.2 समान स्वरूपगत विशेषताएँ

एकेश्वरवादी आंदोलन से जुड़े सभी संतों की शिक्षा में कुछ समानताएँ हैं, जिसके कारण इस आंदोलन में एक आधारभूत साम्य दिखाई पड़ता है:

i) अधिकांश एकेश्वरवादी 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न जातियों' के थे और वे इस बारे में सजग थे कि इनके विचारों में समानता है। इनमें से ज्यादातर एक दूसरे के मतों और प्रभावों की जानकारी रखते थे। वे अपने पदों और दोहों में एक दूसरे का उल्लेख करते थे और अपने पूर्ववर्ती संत-कवियों का उल्लेख करते थे। इससे उनके बीच सौहार्दपूर्ण संबंध का पता चलता

है। कबीर ने रैदास को 'संतों का संत' कहकर संबोधित किया है। रैदास ने भी सम्मानपूर्वक कबीर, नामदेव, त्रिलोचन, धन्ना, सेन और पीपा का उल्लेख किया है। धन्ना, नामदेव, कबीर, रैदास और सेन की ख्याति और लोकप्रियता का उल्लेख करते हुए गर्व महसूस करते हैं और वे यह स्वीकार करते हैं कि वे इन्हीं संतो से प्रभावित होकर भक्ति की ओर आकर्षित हुए हैं। इस बात पर भी कोई विवाद नहीं है कि नानक पर कबीर का स्पष्ट प्रभाव था। इसलिए अगर बाद के लोगों ने कबीर, रैदास, धन्ना, पीपा, आदि को रामानंद का शिष्य माना है, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पाँचवें सिख गुरु अर्जन देव ने *आदि ग्रंथ* में कबीर, रैदास, आदि के पदों को संकलित किया। इससे एकेश्वरवादियों की वैचारिक एकता का पता चलता है।

ii) सभी एकेश्वरवादी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में वैष्णव धारणा, भक्ति, नाथपंथी आंदोलन और सूफ़ी मत से प्रभावित थे। एकेश्वरवादी आंदोलन में इन तीनों धाराओं की त्रिवेणी मिलती है। पर उन्होंने अधिकतर इन विचारधाराओं को मूल रूप में स्वीकार नहीं किया, बल्कि पुरानी विचारधाराओं की नई व्याख्याएँ कीं और उन्हें नया अर्थ दिया।

iii) एकेश्वरवादी यह मानते थे कि भगवान से साक्षात्कार का एक ही मार्ग है और वह है भक्ति द्वारा व्यक्तिगत अनुभव। वैष्णव भक्ति संत भी यही मानते थे, पर दोनों के दृष्टिकोण में मूलभूत अंतर है। एकेश्वरवादी मानते थे कि ईश्वर एक है। अतएव नानक के ईश्वर का अवतार नहीं हुआ था, वह आकारहीन, *निरंकार*, शाश्वत (*अकाल*) और अवर्णनीय (*अलख*) था। अतएव एकेश्वरवादी भक्ति ***निर्गुण*** भक्ति थी न कि ***सगुण***। वैष्णव धर्मावलंबियों की भक्ति *सगुण*-भक्ति थी, जो ईश्वर के कई अवतारों में विश्वास करते थे। एकेश्वरवादियों ने भक्ति का तत्व वैष्णव भक्ति से ग्रहण किया, पर इसे *निर्गुण* रंग में रंग दिया। कई बार कबीर ईश्वर को उनके नाम राम से पुकारते हैं। इसी कारण उन्हें राम-भक्त भी कहा जाता है। पर कबीर ने बड़ी स्पष्टता से कह दिया था कि उनके राम अयोध्या के राजा दशरथ के महल में पैदा होने वाले दशरथ नंदन नहीं हैं, वे वह राम भी नहीं हैं, जिन्होंने रावण का वध किया था। बल्कि निराकार और *निर्गुण* ईश्वर हैं। एक ईश्वर और *निर्गुण* भक्ति में विश्वास करने के अलावा, एकेश्वरवादियों ने ईश्वर का नाम जपने, आध्यात्मिक गुरु, भक्ति गीतों के सामूहिक गायन (*कीर्तन*) और संतों के संग (*सत्संग*) के महत्व पर भी बल दिया है।

iv) एकेश्वरवादियों ने जो पथ अपनाया, हिंदू और इस्लाम दोनों धर्मों से परे था। उन्होंने अपने को इन दोनों प्रभावशाली धर्मों से न केवल अलग रखा बल्कि इनकी जमकर आलोचना की। इन्होंने जाति व्यवस्था और मूर्ति पूजा पर तीखा प्रहार किया। उन्होंने ब्राह्मणों और उनके धर्म-ग्रंथों की सत्ता को अस्वीकार किया। कबीर ने अपनी कटु और अक्खड़ शैली में कट्टर ब्राह्मणवाद पर आक्रमण किया और इसके लिए व्यंग्य का सहारा लिया।

v) एकेश्वरवादियों ने काव्य-रचना के लिए स्थानीय भाषाओं का उपयोग किया। इनमें से कुछ ने उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों में बोली जाने वाली विभिन्न बोलियों के मिश्रण से अपने काव्य की रचना की। एकेश्वरवादियों ने निर्गुण भक्ति का प्रचार करने के लिए अपनी स्थानीय भाषा का प्रयोग नहीं किया, बल्कि मिली-जुली सधुक्कड़ी भाषा का उपयोग किया जिसे सब लोग आसानी से समझ सकें। आम लोगों की भाषा का उपयोग इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि इस काल के संत-कवि विभिन्न प्रांतों का प्रतिनिधित्व करते थे और उनकी स्थानीय भाषाएँ अलग-अलग थीं। यह इस आंदोलन की एक प्रमुख विशेषता है। अपने मत के प्रचार के लिए एकेश्वरवादियों ने विभिन्न लोकप्रिय प्रतीकों और संकेतों का भी उपयोग किया। उन्होंने छोटे-छोटे पदों में अपनी उक्तियाँ व्यक्त की हैं, जिन्हें आराम से याद किया जा सकता है। अतएव, उदाहरण के लिए कबीर की कविता में अक्खड़पन, औघड़पन, और आम लोगों की भाषा का उपयोग हुआ है, लेकिन कबीर की कविता मूलतः जनता की कविता है।

vi) अधिकांश एकेश्वरवादी संत संन्यासी नहीं थे। वे सांसारिक और गृहस्थ जीवन बिताया करते थे। वे लोगों के बीच रहकर उपदेश दिया करते थे। उन्हें पेशेवर सन्यासियों से चिढ़ थी और वे कटु शब्दों में उनकी आलोचना भी करते थे। उन्होंने अपनी कविताओं में बार-बार पेशेवर जाति समुदायों का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने अपना परंपरागत पेशा छोड़ा नहीं था। उनकी तुलना मध्यकालीन यूरोपीय ईसाई संतों से भी नहीं की जा सकती, जिन्हें चर्च

ने 'पवित्र' घोषित कर दिया था। ये (कबीर, आदि संत) एक दूसरे को *'संत'* या ***'भगत'*** कहकर संबोधित किया करते थे और जनता भी उनके लिए इन्हीं संबोधनों का प्रयोग करती थी। *आदि ग्रंथ* में कबीर, रैदास, धन्ना, पीपा, नामदेव, आदि का उल्लेख *'भगत'* के रूप में किया गया है।

vii) अपने मत का प्रचार करने के लिए ये संत खूब घूमा करते थे। महाराष्ट्र के 14वीं शताब्दी के संत नामदेव, घूमते-घूमते पंजाब तक पहुँच गए। वहाँ उनके विचारों को इतनी लोकप्रियता मिली कि बाद में उसे *आदि ग्रंथ* में संकलित कर लिया गया। कबीर, रैदास और अन्य संतों के बारे में भी लोगों का मानना है कि उन्होंने खूब यात्राएँ कीं।

viii) कबीर और अन्य एकेश्वरवादी संतों के मत देश के विभिन्न इलाकों में फैले और 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न' जातियों के बीच लोकप्रिय हुए। इनकी लोकप्रियता ने क्षेत्रीय सीमाओं का अतिक्रमण किया। कबीर को सिख *पंथ* और राजस्थान की दादूपंथी परंपरा में इतना सम्मानजनक स्थान प्राप्त होना इस तथ्य को प्रमाणित करता है। दो सौ साल बाद और वह भी दूरस्थ प्रदेशों में इन संतों की लोकप्रियता बरकरार रहने का प्रमाण इससे मिलता है कि 17वीं शताब्दी के महाराष्ट्र के संत तुकाराम ने अपने को कबीर, रैदास, सेन, गोरा, आदि का अनुयाई और शिष्य बताया। 17वीं शताब्दी में लिखी एक फारसी पुस्तक *दबिस्तान-ए मज़ाहिब*, जिसमें धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है, में उत्तर भारत के लोगों के बीच कबीर की लोकप्रियता का ज़िक्र हुआ है।

ix) जनता के बीच इन एकेश्वरवादी संतों के मत काफी लोकप्रिय होने के बावजूद बाद में प्रमुख संत जैसे कबीर, रैदास और नानक के अनुयायियों ने अपने को एक संप्रदाय या *पंथ* के रूप में संगठित किया और फलस्वरूप कबीर *पंथ*, रैदासी *पंथ*, नानक *पंथ*, आदि अस्तित्व में आए। इन सभी *पंथों* में, केवल सिख ***पंथ*** जन-धर्म का स्वरूप प्राप्त कर सका। दूसरे *पंथ* भी आज किसी न किसी रूप में अस्तित्व में हैं। पर उनके अनुयायियों की संख्या काफी कम है और आधार भी संकीर्ण है।

बोध प्रश्न-2

1) निम्नलिखित में से प्रत्येक पर दो पंक्तियाँ लिखिए:

   क) कबीर .....

   .....

   ख) गुरु नानक .....

   .....

2) भक्ति आंदोलन के उदय के कारणों का उल्लेख कीजिए।

   .....

   .....

   .....

3) एकेश्वरवादी आंदोलन की प्रमुख विशेषताएँ बताइए। किन्हीं तीन प्रमुख एकेश्वरवादी संतों के नाम भी लिखिए।

   .....

   .....

   .....

14.5.3 उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति आंदोलन

विवेच्य काल के दौरान उत्तर भारत में रामानंद वैष्णव भक्ति के सर्वप्रमुख विद्वान संत थे। उनके कुछ विचारों का उल्लेख हम **भाग 14.3** में पहले भी कर चुके हैं। उनका काल 14वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 15वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच का है। अपना आरंभिक जीवन उन्होंने दक्षिण में बिताया पर बाद में वे बनारस में बस गए। उन्हें दक्षिण भारतीय भक्ति परंपरा और उत्तर भारतीय वैष्णव भक्ति

के बीच की कड़ी माना जाता है। पर उनकी विचारधारा आरंभिक दक्षिण भारतीय *आचार्यों* से तीन अर्थों में भिन्न थीः

i) वे विष्णु को नहीं राम को भक्ति का आराध्य मानते थे। उनके अनुसार राम सर्वोच्च ईश्वर थे, जिनकी अराधना सीता के साथ करनी चाहिए। इस दृष्टि से उत्तर भारत की वैष्णव भक्ति परंपरा में उन्हें राम संप्रदाय के संस्थापक के रूप में देखा जाता है।

ii) राम संप्रदाय के प्रचार के लिए उन्होंने संस्कृत का नहीं, बल्कि आम लोगों की भाषा का उपयोग किया।

iii) वैष्णव भक्ति परंपरा में रामानंद का सर्वप्रमुख योगदान यह है कि उन्होंने सभी लोगों के लिए (जाति के बंधन को तोड़कर) भक्ति को सुलभ कराया। धार्मिक और सामाजिक मामलों में उन्होंने जातिगत बंधनों को काफी उदार बना दिया। ब्राह्मण होने के बावजूद उन्होंने 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न' जातियों के वैष्णव अनुयायियों के साथ भोजन किया।

अंतिम मुद्दे के कारण ही बाद की वैष्णव परंपरा में कबीर और कुछ अन्य एकेश्वरवादियों को रामानंद का शिष्य बताया गया है। यह भी कहा जाता है कि इस्लाम धर्म के बढ़ते प्रभाव के कारण रामानंद ने यह परिवर्तन जरूरी समझा होगा। ऐसा भी माना जाता है कि 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न' जातियों के बीच नाथ पंथियों के बढ़ते प्रभाव को कम करने के लिए रामानंद के लिए ऐसा करना जरूरी हो गया होगा। उनके अनुयायियों को रामानंदी कहा जाता है। रामानंद द्वारा लिखित एक पद *आदि ग्रंथ* में भी संकलित है।

सल्तनत काल में वैष्णव भक्ति के एक प्रमुख उपदेशक वल्लभाचार्य भी थे। वे तेलुगु ब्राह्मण थे और उनका काल 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 16वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पड़ता है। उनका जन्म भी बनारस में हुआ था। वे पुष्टिमार्ग के संस्थापक थे। इसे वल्लभ संप्रदाय के नाम से भी जाना जाता है। उन्होंने कृष्ण भक्ति का प्रचार किया। प्रमुख कृष्ण भक्त कवि सूरदास (1483-1563) और अन्य सात कवियों को *अष्टछाप* के नाम से जाना जाता है। इन्हें वल्लभ का शिष्य माना जाता है। बाद में यह संप्रदाय गुजरात में लोकप्रिय हुआ।

वस्तुतः उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति ने अपार लोकप्रियता पाई और उसका जनाधार विकसित हुआ। लेकिन मुगल काल के दौरान तुलसीदास (1532-1623) राम भक्ति में लीन हुए जबकि सूरदास (1483-1563), मीराबाई (1503-1573) और अन्य संतों ने कृष्ण भक्ति को लोकप्रिय बनाया।

14.5.4 बंगाल में वैष्णव भक्ति आंदोलन

बंगाल की वैष्णव भक्ति कई मामलों में उत्तर भारत और प्राचीन दक्षिण भारत की भक्ति से अलग थी। इसे दो विभिन्न परंपराओं ने प्रभावित किया। एक तरफ बंगाल की भक्ति *भागवत् पुराण* की वैष्णव भक्ति परंपरा और कृष्ण *लीला* के महिमा-बखान से प्रभावित थी और दूसरी तरफ सहजिया बौद्ध और नाथपंथियों की परंपरा से। जयदेव (12वीं शताब्दी) से लेकर बाद तक के अनेक भक्त कवियों में वैष्णव भक्ति का यह प्रभाव झलकता है। जयदेव ने *गीत गोविंद* की रचना संस्कृत में की थी। उन्होंने मैथिली भाषा में भी गीत रचे थे। इसे बाद में बंगाल वैष्णव भक्ति परंपरा में समेट लिया गया। उन्होंने कृष्ण और राधा के प्रेम को एक श्रृंगारिक अलौकिक स्वरूप प्रदान किया। इस समय बिहार और बंगाल में सहजिया बौद्ध और नाथपंथी जैसे गैर-वैष्णव संप्रदाय, जो अस्तित्व में थे, उन्होंने भी बंगाल में भक्ति आंदोलन को प्रभावित किया।

ये पंथ धर्म के गूढ़ और भावात्मक तत्वों को आसान और स्वाभाविक बनाकर पेश किया करते थे। चंडीदास (14वीं शताब्दी) और विद्यापति (14वीं-15वीं शताब्दी) जैसे वैष्णव भक्ति कवि इन गैर-वैष्णव पंथों से प्रभावित हुए। हालांकि *भागवत्* परंपरा का भी उन पर गहरा असर था। प्रथम बंगला कवि चंडीदास और मैथिल कवि विद्यापति ने कृष्ण-राधा संबंध को महिमा-मंडित किया। इनके गीत बंगाल के वैष्णव भक्ति आंदोलन के अंग के रूप में विकसित हुए। चैतन्य खुद सहजिया सिद्धांत से प्रत्यक्षतः प्रभावित नहीं थे। यह संभव है कि चंडीदास और विद्यापति के माध्यम से बंगाल के भक्ति आंदोलन पर इन रहस्यवादी *पंथों* का प्रभाव पड़ा हो। पर निश्चित रूप से इस भक्ति आंदोलन पर मूल प्रभाव *भागवत् पुराण* का ही था।

बंगाल के वैष्णव संतों में चैतन्य (1486-1533) सर्वप्रमुख हैं। उन्होंने पूर्वी भारत के अन्य हिस्सों में इसका प्रचार किया। एक धार्मिक पुरुष के रूप में उनकी प्रतिष्ठा इतनी ज्यादा थी कि लोग उनके जीवित रहते ही उन्हें कृष्ण का *अवतार* मानने लगे थे। चैतन्य के आगमन के बाद बंगाल के वैष्णव भक्ति आंदोलन का स्वरूप बदल गया। अब इसमें केवल भक्ति के गीत ही नहीं रचे जाते थे, बल्कि यह एक सुधार आंदोलन के रूप में विकसित हुआ, जिसका एक व्यापक सामाजिक आधार था।

चैतन्य ने कृष्ण भक्ति को लोकप्रिय बनाने के लिए जाति, धर्म और लिंग के बंधनों को तोड़ दिया। सभी जातियों और समुदायों के लोग उनके अनुयाई थे। हरिदास, जो कि एक मुसलमान थे, उनके एक प्रमुख शिष्य थे। उन्होंने संकीर्तन अर्थात् सामूहिक उन्मादपूर्ण नृत्य तथा सामूहिक भक्ति गान की प्रथा को लोकप्रिय बनाया।

लेकिन चैतन्य ने परंपरागत ब्राह्मणवादी मूल्यों का पूर्णतः त्याग नहीं किया। उन्होंने ब्राह्मणों और उनके ग्रंथों को चुनौती नहीं दी। उन्होंने 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न जाति' के शिष्यों के प्रति ब्राह्मण शिष्यों की जातिगत भावनाओं को अनुमोदित किया। उन्होंने संस्कृत के ज्ञाता छः ब्राह्मण गोस्वामियों को मथुरा के निकट वृंदावन भेजा। वहाँ उन्होंने एक ऐसे धर्म संस्थान की स्थापना की, जिसमें परंपरागत पूजा और अनुष्ठान का प्रावधान था और ईश्वर तक पहुँचने में जातिगत बाधाएँ भी थीं। इन गोस्वामियों ने धीरे-धीरे अपने को चैतन्य की मान्यता और बंगाल में पनप रहे लोकप्रिय आंदोलन से अलग कर लिया।

बंगाली समाज पर चैतन्य के आंदोलन का अच्छा-खासा प्रभाव पड़ा। उन्होंने संकीर्तन में जातिगत असमानता पर अंकुश लगाया और इस प्रकार बंगालियों के जीवन में एक प्रकार की समानता की भावना आई। बंगाल के साथ-साथ यह आंदोलन ओडिशा में पुरी में भी लोकप्रिय था। इन स्थानों पर उनके शिष्य केवल ब्राह्मण विद्वान ही नहीं थे, बल्कि उनके शिष्यों में आम आदमियों की संख्या भी थी। वे बंगला में लिखते थे, भक्ति का प्रचार करते थे और वे चैतन्य को सजीव कृष्ण या एक ही शरीर में राधा-कृष्ण के रूप में देखते थे।

14.5.5 महाराष्ट्र में भक्ति आंदोलन

अन्य वैष्णव भक्ति आंदोलनों के समान महाराष्ट्र के वैष्णव आंदोलन पर भी *भागवत् पुराण* का जबरदस्त असर था। इसके अतिरिक्त उन पर शैव नाथपंथियों का भी प्रभाव पड़ा जिनका 11वीं-12वीं शताब्दी के दौरान महाराष्ट्र समाज की 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न' जातियों पर गहरा प्रभाव था। ये काव्य-रचना के लिए मराठी का उपयोग करते थे। ज्ञानेश्वर (1275-1296) महाराष्ट्र के भक्त-संतों में अग्रणी हैं। उन्होंने *भागवत् गीता* पर वृहत् भाष्य लिखा है। इसे *ज्ञानेश्वरी* के नाम से जाना जाता है। यह पुस्तक मराठी साहित्य की आरंभिक कृतियों में से एक है और महाराष्ट्र की भक्ति विचारधारा का आधार है। उन्होंने कई श्लोकों की भी रचना की जिन्हें *अभंग* के नाम से जाना जाता है। उन्होंने उपदेश दिया कि केवल भक्ति के मार्ग से ही भगवान के पास पहुँचा जा सकता है और इसमें जातिगत भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं है।

नामदेव (1270-1350) पेशे से दर्जी थे। यह माना जाता है कि वे महाराष्ट्र भक्ति आंदोलन और उत्तर भारत के एकेश्वरवाद आंदोलन के बीच की कड़ी थे। वे पंढरपुर में रहते थे, पर उन्होंने उत्तर भारत का भ्रमण किया था और पंजाब भी गए थे। उनके भक्ति गीत भी *आदि ग्रंथ* में संकलित हैं। महाराष्ट्र में नामदेव को वारकरी परंपरा (वैष्णव भक्ति परंपरा) में स्थान दिया जाता है, पर उत्तर भारत की एकेश्वरवादी परंपरा में उन्हें *निर्गुण* संत के रूप में याद किया जाता है। महाराष्ट्र के अन्य प्रमुख संतों में एकनाथ (1533-1599) और तुकाराम (1598-1650) उल्लेखनीय हैं।

14.5.6 अन्य प्रदेशों में भक्ति आंदोलन

14वीं शताब्दी के दौरान कश्मीर में शैव भक्ति फली-फूली। यहाँ के शैव भक्ति संतों में लाल डेड नामक महिला संत का नाम सबसे ऊपर आता है। गुजरात में भक्ति का प्रचार वल्लभाचार्य और उनके वल्लभ संप्रदाय द्वारा हुआ। इसके अतिरिक्त नरसिंह मेहता (1414-1481 या 1500-1580) भी अन्य प्रमुख संत थे। वे जयदेव और कबीर से परिचित थे और कई संत कवि उनके शिष्य थे। गुजरात के व्यापारियों और भूमिपतियों के बीच वल्लभ संप्रदाय काफी लोकप्रिय हुआ। 12वीं-13वीं

शताब्दी के दौरान कर्नाटक में कन्नड़ भाषी वीर शैवों के बीच शैव भक्ति संप्रदाय विकसित हुआ। उन्होंने भक्ति की परंपरागत अवधारणा को बदल दिया। उनका दृष्टिकोण प्रगतिशील था। उन्होंने इसके माध्यम से समाज की आलोचना करने का बीड़ा भी उठाया।

असम की ब्रह्मपुत्र घाटी और कूच-बिहार में शंकरदेव (1449-1568) ने भक्ति का प्रचार-प्रसार किया। उनका जन्म एक गैर-ब्राह्मण *भूयान* सरदार के परिवार में हुआ था। प्रौढ़ावस्था में वे संन्यासी बन गए और माना जाता है कि उन्होंने उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत के तीर्थस्थलों का दौरा किया। उन्होंने विष्णु या उनके अवतार कृष्ण के प्रति पूर्ण समर्पण का उपदेश दिया। उन्हें अहोम राज्य के ब्राह्मण पुजारियों के कोप का शिकार बनना पड़ा और उन्होंने पड़ोसी राज्य कूच-बिहार में शरण ली। यहाँ के राजा ने उन्हें भक्ति के प्रचार-प्रसार की पूरी आजादी दी। इनकी भक्ति एकेश्वरवादी विचारों से प्रभावित थी। इसे *एक-शरण-धर्म* के नाम से जाना जाता था, यानी ऐसा धर्म जिसमें एक आराध्य में श्रद्धा या निष्ठा रखी जाती हो। उन्होंने जाति व्यवस्था की आलोचना की और जनता को उनकी भाषा (ब्रज बोली का असमी रूप) में उपदेश दिया। उन्होंने भक्ति के प्रचार-प्रसार के लिए नृत्य-नाटक-संगीत का समावेश किया। उन्होंने सात्रा नाम से एक संस्था की भी स्थापना की। सात्रा का मतलब है वह मीटिंग जिसमें सभी वर्गों के लोग धार्मिक और सामाजिक मुद्दों पर बातचीत करने के लिए इकट्ठे होते थे। बाद में ये सात्रा मठ में रूपांतरित हो गए। उनके संप्रदाय को महापुरुषीय धर्म के नाम से जाना जाता था।

बोध प्रश्न-3

1) वैष्णव भक्ति आंदोलन पर एक टिप्पणी कीजिए।

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित में प्रत्येक पर संक्षिप्त में लिखिएः

क) बंगाल का भक्ति आंदोलन.....

.....

.....

ख) महाराष्ट्र का भक्ति आंदोलन .....

.....

.....

14.6 अन्य परम्पराओं और आंदोलनों का प्रभाव

यह स्पष्ट है कि अपेक्षाकृत दक्षिण भारतीय भक्ति को सल्तनत काल के भक्ति आंदोलनों से नहीं जोड़ा जा सकता है। पर सल्तनत काल के पहले से चली आई परंपराओं और आंदोलनों का उन पर प्रभाव था। मसलन *भागवत् पुराण* तथा रामानंद जैसे विद्वान संतों के विचारों और गतिविधियों और नाथपंथ जैसे *अशास्त्रीय* आंदोलनों का प्रभाव इस दौर के भक्ति आंदोलन पर पड़ा।

भागवत् पुराण में भक्ति के सिद्धांत को अंतिम रूप दिया गया। वैष्णव मत के इस ग्रंथ की रचना 9वीं शताब्दी के आसपास हुई थी। इसमें विष्णु के विभिन्न अवतारों, खासकर कृष्ण के अवतार की भक्ति पर विशेष बल दिया गया। *भागवत्* में ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित वर्ण व्यवस्था के उद्भव के सिद्धांत को स्वीकार किया गया है, पर इसमें ब्राह्मणों को केवल उनकी हैसियत या जन्म के आधार पर श्रेष्ठ नहीं माना जाता है। इसकी दृष्टि में भक्ति सर्वोपरि है। ऐसा माना जाता है कि *भागवत् पुराण* मध्यकालीन विभिन्न वैष्णव भक्ति आंदोलनों को जोड़ने वाली कड़ी थी। पर कबीर और नानक जैसे एकेश्वरवादी संतों पर *भागवत्* परम्परा का प्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता है। इनमें से अधिकांश संत निरक्षर थे और वे *भागवत्* और अन्य धर्म ग्रंथों को पढ़ने में असमर्थ थे। इसी कारण कबीर की भक्ति और *भागवत्* की भक्ति में महत्वपूर्ण अंतर है। कबीर और अन्य निरीश्वरवादी संत अवतार में विश्वास नहीं रखते थे और ब्राह्मणवाद और धर्म ग्रंथों की मान्यताओं को नकारते थे।

14.6.1 लोकप्रिय एकेश्वादी संत और रामानन्द

कबीर, रैदास और अन्य एकेश्वरवादी संतों की मान्यताओं और आन्दोलनों का स्रोत रामानन्द के मत को माना जाता है। रामानन्द ने भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया था और जातिगत बंधनों का कसकर विरोध किया था। उन्होंने लोक भाषा में अपने मत और विचारों का प्रसार किया था। पर समग्र रूप में, उनकी भक्ति की अवधारणा वैष्णव भक्ति का एक अंग थी। दूसरी तरफ कबीर, आदि एकेश्वरवादी संत रामानन्द जैसे उदारवादी वैष्णव भक्तों से भी एक कदम आगे बढ़े और उन्होंने समग्र रूप में ब्राह्मण धर्म का विरोध किया। वस्तुतः जिन संतों को रामानन्द का शिष्य कहा जाता है, उनमें से एक ने भी उन्हें या किसी और व्यक्ति को अपने गुरु के रूप में स्वीकार नहीं किया है।

14.6.2 एकेश्वरवादी संतों पर नाथपंथी आंदोलन का प्रभाव

नाथपंथी जैसे असनातनी आंदोलनों का कबीर और अन्य एकेश्वरवादियों के विचारों पर असर पड़ा था। नाथपंथ के उपदेश 'छोटी' जातियों, जैसे – डोम, चमड़े का काम करने वाले, धोबी, तेली, दर्जी, मछुआरा, बढ़ई, मोची, आदि का प्रतिनिधित्व करते थे। इन्हें *सिद्ध* कहा जाता था। 13वीं-14वीं शताब्दी के दौरान उत्तर भारत में तुर्की के शासन की स्थापना के साथ-साथ नाथपंथी आंदोलन की लोकप्रियता भी अपने उत्कर्ष पर पहुँच गई। नाथपंथी *योगियों* के सम्प्रदाय में बिना जातिगत भेदभाव के किसी को भी शामिल किया जा सकता था।

कबीर के निरीश्वरवादी दृष्टिकोण, उनके सोचने के अलग ढंग, वाणी की कटुता, '*उलटबासियों*' के प्रयोग (विरोधाभास और प्रतीकों का प्रयोग) और कुछ-कुछ रहस्यात्मक प्रतीकों में नाथपंथियों का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। पर कबीर और अन्य एकेश्वरवादियों ने नाथपंथ के विचारों और शैली को ज्यों का त्यों नहीं अपना लिया, बल्कि उसे अपनी जरूरत के अनुकूल ढालकर प्रयुक्त किया। कबीर ने उनके तप संबंधी और रहस्यवादी सिद्धांतों तथा श्वास नियंत्रण जैसे शारीरिक अभ्यासों को अस्वीकार कर दिया। वस्तुतः जब-जब मध्यकालीन एकेश्वरवादी संतों ने ब्राह्मण धर्म और उनकी व्यवस्था पर आक्रमण के लिए सिर उठाया, उनके स्वर में नाथपंथियों का स्वर मिल गया।

14.6.3 इस्लामी विचारधारा का प्रभाव और सूफ़ी मत की भूमिका

कई विद्वानों का यह मानना है कि 12वीं शताब्दी के पहले भी और बाद में भी भक्ति आंदोलन के विभिन्न रूप और खुद भक्ति का सिंद्धात इस्लाम मत के प्रभाव के कारण फलीभूत हुआ। यह दावा इस्लाम और भक्ति संप्रदायों के बीच की समानताओं को देखकर किया जाता है। दूसरी तरफ, यह भी कहा जाता है कि भक्ति और भक्ति आंदोलन का जन्म देशी कारणों से हुआ था। अपेक्षाकृत पुराने दक्षिण भारतीय भक्ति आंदोलन पर तो इस्लाम का प्रभाव हो ही नहीं सकता, क्योंकि इसका जन्म दक्षिण भारत में इस्लाम के पहुँचने के काफी पहले हो चुका था। जहाँ तक अवधारणा का सवाल है, भक्ति और श्रद्धा किसी एक धर्म तक ही सीमित नहीं हैं। सभी धर्मों में ये तत्व मिल जाते हैं। वस्तुतः ऐसे आंदोलनों के उत्थान और विकास के पीछे कुछ ऐतिहासिक कारण होते हैं। एक अनुकूल माहौल पाकर ये पनप उठते हैं। अतः मध्यकालीन भारत के भक्ति आंदोलन को समकालीन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में जाँचना-परखना उचित होगा। किसी दूसरे धर्म में इसका उद्गम खोजना या उसे प्रेरणा स्रोत मानना दूर की कौड़ी लाने जैसा प्रयास होगा। हाँ, यह कहा जा सकता है कि विभिन्न भक्ति सम्प्रदायों, खासकर एकेश्वरवादियों को इस्लाम ने दूसरे ढंग से प्रभावित किया। कबीर और नानक जैसे निरंकारी संतों ने कुछ विचार इस्लाम से भी ग्रहण किए। एक ईश्वर में विश्वास, अवतारवाद की अस्वीकृति, *निर्गुण* भक्ति और मूर्तिमूजा तथा जाति व्यवस्था पर उनके आक्रमण में इस्लाम मत के बीज तत्व मिल जाते हैं। लेकिन इस्लाम के तत्वों को उन्होंने हू-ब-हू नहीं अपना लिया, और कट्टरपंथी इस्लाम के कई मतों पर प्रहार किया। पर वैष्णव भक्ति आंदोलन पर इस्लाम का प्रभाव नहीं स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि न तो उन्होंने मूर्तिपूजा को नकारा और न ही जाति व्यवस्था और अवतारवाद का तिरस्कार किया। वे *सगुण* भक्ति में विश्वास रखते थे। एकेश्वरवादी भक्ति आंदोलन और इस्लाम के बीच एक प्रकार का आदान-प्रदान भी हुआ और इस आदान-प्रदान के क्रम में सूफ़ी मत का जन्म हुआ। सूफ़ी '*पीर*' की बात करते हैं, '*प्यारे*' (ईश्वर) के साथ एकाकार होने का सिद्धांत सामने रखते हैं। इसी प्रकार निरंकारी संत भी गुरु और ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण की बात करते हैं। यह माना जाता है कि चिश्ती सूफ़ी संतों के साथ कबीर के संबंध

थे, पर इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिला है। *जनम-साखियों* में नानक से सूफियों की मुलाकात का उल्लेख मिलता है। हालांकि ऐतिहासिक तौर पर सूफ़ी और एकेश्वरवाद आंदोलन की धारा बिल्कुल अलग-थलग है, पर उनमें कुछ आधारभूत समानताएँ हैं, मसलन वे हिन्दू और मुस्लिम रूढ़िवादिता को एक स्वर से नकारते हैं। उनके बीच का आदान-प्रदान अप्रत्यक्ष था पर इस अप्रत्यक्ष आदान-प्रदान ने भी दोनों को बढ़ावा दिया।

14.6.4 हिंदू धर्म को इस्लाम की चुनौती संबंधी विचाराधारा

भक्ति आंदोलन के उदय की एक और आधुनिक विचारधारा सामने आयी है। इसके अनुसार भक्ति आंदोलन का उदय इस्लाम से 'हिंदू' धर्म की रक्षा करने के लिए हुआ था। 'मुस्लिम' शासन में 'हिंदुओं' के साथ अन्याय हो रहा था। इस्लाम एकेश्वरवाद, बंधुत्व और समानता के अपने मत के कारण हिंदू धर्म के अस्तित्व को चुनौती दे रहा था। इस सिद्धांत के अनुसार भक्ति आंदोलन का उदय प्रतिरक्षात्मक कारणों से हुआ था। एक तरफ तो हिंदू धर्म से मूर्तिपूजा और जाति प्रथा जैसी कुप्रथाओं को हटाकर हिंदू धर्म की रक्षा करने का प्रयत्न किया जा रहा था और दूसरी तरफ इसके आधारभूत तत्वों की रक्षा करने के लिए इसे प्रचारित भी किया जा रहा था। कबीर, नानक, आदि ने हिंदू धर्म की कुप्रथाओं पर आक्रमण किया और 16वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 12वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तुलसीदास ने इस धर्म को लोकप्रिय बनाने का कार्य संपन्न किया। पर मध्यकालीन भक्ति आंदोलन से संबंधित यह धारणा किसी प्रमाण पर आधारित नहीं है:

i) इस्लाम से हिंदू धर्म के खतरे का सिद्धांत वस्तुतः आज की साम्प्रदायिक मानसिकता की उपज है जिसमें वर्तमान माहौल को अतीत के संदर्भ में देखने की कोशिश की जाती है। इस्लाम धर्म के भारत पहुँचने से पूर्व ही उसका 'बंधुत्व' का सिद्धांत अपनी शक्ति खो चुका था और मुस्लिम समाज में भी सामाजिक-आर्थिक और जातीय असमानताएँ प्रवेश कर गई थीं। तुर्की शासक वर्ग में एक प्रकार की जातीय श्रेष्ठता की भावना छिपी थी और वे इस्लाम धर्म स्वीकार करने के बाद भी भारत की 'छोटी जातियों' को नीची निगाह से देखते थे और उन्हें अच्छे ओहदों के लिए उपयुक्त नहीं मानते थे।

ii) हिंदू जनता अपने धार्मिक आचारों का पालन करती रही और धार्मिक त्योहार मनाती थी। वस्तुतः, अभी भी ज्यादा जनसंख्या हिन्दू थी। यहाँ तक कि सल्तनत की राजधानी दिल्ली में भी जनसंख्या के हिसाब से हिंदुओं की संख्या अधिक थी।

iii) एकेश्वरवादी संतों ने पंडित-मौलवियों और उनकी रूढ़िवादिता को एक साथ फटकारा।

iv) यह मानना कि सभी एकेश्वरवादी और वैष्णव इस्लाम के खतरे के प्रति अपनी भावना व्यक्त कर रहे थे, कुछ ठीक मालूम नहीं पड़ता। कबीर और 'छोटी जातियों' के संत अपने को कभी भी वैष्णव संतों के साथ जोड़कर नहीं देख सके।

v) अंत में यह कहा जा सकता है कि वैष्णव भक्ति संतों की कविताओं और उपदेशों में दूर-दूर तक कहीं इस्लाम धर्म के प्रभाव का संकेत नहीं है। वस्तुतः उन दोनों धर्मों की मान्यताओं में कई आधारभूत मतभेद हैं। दूसरी तरफ चैतन्य के शिष्यों, रामानन्द, कबीर, नानक या दादूदयाल, में मुसलमान और हिंदू दोनों शामिल थे।

बोध प्रश्न-4

1) नाथपंथी सिद्धांत ने भक्ति संतों को किस प्रकार प्रभावित किया?

.....

.....

.....

2) क्या आप इस बात से सहमत हैं कि भक्ति आंदोलन के उदय में इस्लाम का प्रभाव निहित है? टिप्पणी कीजिए।

.....

.....

.....

14.7 सारांश

भारतीय इतिहास में छठी शताब्दी पूर्व के असनातनी आंदोलन के बाद, सल्तनत काल में भक्ति आंदोलनों का उदय हुआ, जिसका आयाम काफी व्यापक था। यह तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक माहौल की ऊपज था। इन्होंने समय-समय पर नए सामाजिक-धार्मिक विचार और मान्यताएँ सामने रखीं और समाज को प्रभावित किया। भक्ति आंदोलन के दौरान विकसित बहुत सी प्रथाएँ हिंदू धर्म में आज भी अस्तित्व में हैं, जैसे ईश्वर का नाम बार-बार जपना, सत्संग में भाग लेना, और *संकीर्तन* का आयोजन करना। इन आंदोलनों से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का जन्म हुआ, सिख जैसे नए धार्मिक समुदाय कायम हुए और कई संप्रदायों या *पंथों* का उदय हुआ।

इस इकाई में हमने निम्नलिखित मुद्दों का अध्ययन किया है:

- दक्षिण भारत के भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि, जो दूसरे रूप में उत्तर भारत में पनपा,
- भक्ति आंदोलन के उदय में कार्यरत विभिन्न राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक तत्व,
- भक्ति आंदोलन की दो प्रमुख धाराएँ – एकेश्वरवादी और वैष्णव,
- उत्तर भारत, महाराष्ट्र और बंगाल में इन दोनों धाराओं के प्रमुख संत और आंदोलन,
- उत्तर भारतीय भक्ति आंदोलन पर विभिन्न सम्प्रदायों और मतों का प्रभाव, और
- भक्ति आंदोलन पर इस्लाम का प्रभाव।

14.8 शब्दावली

आचार्य	नये धार्मिक और दार्शनिक विचारों के प्रणेता संत विद्वान
आदि ग्रंथ	सिखों का सबसे पवित्र धर्म ग्रंथ जिसे 1604 में सिख गुरु अर्जन ने संकलित किया था। बाद में इसे *गुरु ग्रंथ साहब* के नाम से जाना जाने लगा
भगत	भक्त, उपासक का अपभ्रंश रूप
जुलाहा	मुसलमान बुनकर जाति का सदस्य
कीर्तन	सामूहिक भजन गान
मार्ग	रास्ता, राम मार्ग या कृष्ण मार्ग जैसे भक्ति मत
मुक्ति	छुटकारा
नाम	ईश्वर नाम
निरंकार	बिना किसी आकार का
निर्गुण	निराकार स्वरूप
पंथ	मार्ग, संप्रदाय, किसी खास एकेश्वरवादी संत से जुड़ा हुआ, जैसे कबीरपंथ, नानकपंथ, दादूपंथ, आदि
परम्परा	अतीत से चली आ रही नीति
शबद/सबद	ईश्वरीय शब्द, ईश्वर से आत्मलाप
सगुण	साकार स्वरूप
सम्प्रदाय	परम्परा, खास धार्मिक विचार और प्रथा का एक संगठन
वैष्णव	विष्णु के उपासक
वारकरी	एक वैष्णव भक्ति परंपरा

14.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 14.1, 14.2, 14.3

2) देखें भाग 14.2

बोध प्रश्न-2

1) देखें भाग 14.4

2) देखें उप-भाग 14.5.1

3) देखें उप-भाग 14.5.1, 14.5.2

बोध प्रश्न-3

1) देखें उप-भाग 14.5.3

2) देखें उप-भाग 14.5.4, 14.5.5

बोध प्रश्न-4

1) देखें उप-भाग 14.6.2

2) देखें उप-भाग 14.6.3

14.10 संदर्भ ग्रंथ

चंद, तारा, (2006) (पुनः मुद्रित) *इनफ्लुएंस ऑफ इस्लाम ऑन इंडियन कल्चर* (नाबू बुक).

इराक़ी, शिहाबुद्दीन, (2009) *भक्ति मूवमेंट इन मिडिवल इंडिया* (नई दिल्लीः मनोहर).

लॉरेन्ज़न, डेविड एन., (1995) *भक्ति रिलीजन इन इंडियाः कम्युनिटी आइडेन्टिटी एंड पॉलीटिकल एक्शन* (न्यूयॉर्कः स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूयॉर्क प्रेस).

शॉमर, केरीन, और डब्ल्यू. एच. मैक्लियड, (1987) *द संत्सः स्टडीज़ इन ए डिवोशनल ट्रेडिशन ऑफ इंडिया* (दिल्लीः मोतीलाल बनारसीदास).

शीमा, इवाओ, (2011) *द हिस्टॉरिकल डेवेलपमेंट ऑफ भक्ति मूवमेंट इन इंडिया* (नई दिल्लीः मनोहर).

ज़ेलियट, इलानोव, (1976) 'द मिडिवल भक्ति मूवमेंट इन हिस्ट्री – एन ऐसे ऑन द लिट्रेचर इन इंग्लिंश', देखें बार्डवेल एल. स्मिथ, (संपा.) *हिंदूइज़्मः न्यू ऐसे इन द हिस्ट्री ऑफ रिलीजन्स* (लाइडनः ई. जे. ब्रिल) (न्यूमेन सीरीज), पृ. 143-168.

14.11 शैक्षणिक वीडियो

रोल ऑफ भक्ति मूवमेंट इन इंडियन हिस्ट्री | राज्यसभा टी वी
https://www.youtube.com/watch?v=tFClKGI1Ybs

इन डैप्थ – संत कबीर
https://www.youtube.com/watch?v=EpAhA_CbgBQ

भक्ति मूवमेंट
https://www.youtube.com/watch?v=gTJnn-HBoVQ

इकाई 15 सूफ़ी परंपरा*

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 सूफ़ी मत की विशेषताएँ

15.3 इस्लामी विश्व में सूफ़ी आन्दोलन का विकास

- 15.3.1 आरंभिक चरणः 10वीं शताब्दी तक
- 15.3.2 संगठित सूफ़ी आंदोलन का विकासः 10वीं-12वीं शताब्दी
- 15.3.3 सूफ़ी सम्प्रदायों/*सिलसिलों* की स्थापनाः 12वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और तेरहवीं शताब्दी

15.4 भारत में सूफ़ी मत का विकास

15.5 भारत में सल्तनत काल के दौरान सूफ़ी *सिलसिले*

- 15.5.1 सुहरावर्दी *सिलसिला*
- 15.5.2 चिश्ती *सिलसिला*
- 15.5.3 अन्य सूफ़ी *सिलसिले*

15.6 चिश्ती *सिलसिले* की लोकप्रियता के कारण

15.7 सूफ़ियों की सामाजिक भूमिका

- 15.7.1 सूफ़ी और राज्य
- 15.7.2 सूफ़ी और *उलमा*
- 15.7.3 सूफ़ी और धर्म परिवर्तन
- 15.7.4 सूफ़ी *खानकाहों* में भौतिक जीवन

15.8 भारतीय सूफ़ी मत पर समकालीन इस्लामी देशों के सूफ़ी विचारों का प्रभाव

15.9 सूफ़ी और भक्ति आंदोलन और सांस्कृतिक समन्वय

15.10 सारांश

15.11 शब्दावली

15.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.13 संदर्भ ग्रंथ

15.14 शैक्षणिक वीडियो

15.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम मध्यकालीन भारत के सूफ़ी आंदोलनों और विचारों पर चर्चा करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आपः

- सूफ़ी मत की विशेषताओं का उल्लेख कर सकेंगे,
- इस्लामी देशों में सूफ़ी मत के उदय पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- दिल्ली सल्तनत के दौरान भारत में इसके विकास को रेखांकित कर सकेंगे,

* प्रो. आर. पी. बहुगुणा, इतिहास तथा संस्कृति विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली। यह इकाई इग्नू के पाठ्यक्रम ई.एच.आई.-03: *भारतः 8वीं सदी से 15वीं सदी तक*, खंड 8, इकाई 30 से ली गई है।

- इस काल में पनपे विभिन्न सूफ़ी *सिलसिलों* का वर्णन कर सकेंगे,
- भारत में चिश्ती *सिलसिले* की लोकप्रियता के कारणों पर प्रकाश डाल सकेंगे, और
- समकालीन भारतीय समाज पर सूफ़ी मत के प्रभाव का विश्लेषण कर सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

इस्लाम में विभिन्न रहस्यात्मक प्रवृत्तियों और आंदोलनों को सूफ़ीमत या *तसव्वुफ़* के नाम से जाना जाता था। इस्लाम में व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित रहस्यवादिता के माध्यम से ईश्वर और व्यक्ति के बीच सीधा संपर्क स्थापित करने की बात की जाती है। प्रत्येक धर्म अपने विकास के क्रम में कभी न कभी इस रहस्यवाद का सहारा अवश्य लेता है। इस दृष्टि में सूफ़ी मत *कुरान* की पवित्रता की भावना पर आधारित इस्लाम का स्वाभाविक विकास है। सूफ़ी संत *शरीयत* को स्वीकार करते थे, पर वे परंपरा से चली आई आराधना पद्धति में बंधकर नहीं रहे, बल्कि उन्होंने ऐसी पद्धति विकसित की, जिसका उद्देश्य ईश्वर से सीधा तादात्म्य स्थापित करना था।

इस इकाई में हम सूफ़ी मत की मुख्य विशेषताओं और भारत में इसके प्रसार पर विचार-विमर्श करेंगे। इस इकाई में आप भारत में लोकप्रिय विभिन्न सूफ़ी सम्प्रदायों का अध्ययन करेंगे। इसके साथ ही हम समकालीन भारतीय समाज पर सूफ़ी आन्दोलन के प्रभाव का विश्लेषण भी करेंगे।

15.2 सूफ़ी मत की विशेषताएँ

भारत और उसके बाहर कई सूफ़ीमत या *सिलसिले* विकसित हुए। प्रत्येक मत की अपनी-अपनी खास विशेषताएँ थीं, पर सभी सूफ़ी मतों में कुछ समान विशेषताएँ भी थीं। हम यहाँ इसी प्रकार की विशेषताओं की चर्चा करेंगे।

i) सूफ़ी मत का उदय इस्लामी देशों में हुआ। इसमें अलौकिक यथार्थ (*हक़ीक़त*) से सीधा संपर्क स्थापित करने के लिए सूफ़ी मार्ग (*तरीका*) पर चलने का महत्व बताया गया।

ii) सूफ़ी मत के अनुसार व्यक्ति को ईश्वर का अनुभव करने के लिए कई 'पड़ावों' या 'चरणों' (*मक़ामात*) और मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों (*हाल*) का सामना करके गुजरना पड़ता है।

iii) सूफ़ी मार्गों को कोई भी व्यक्ति केवल आध्यात्मिक गुरु (*शेख, पीर* या *मुर्शिद*) के कड़े निरीक्षण से ही पार कर सकता है। *शेख, पीर* या *मुर्शिद* का दर्जा वही पा सकते हैं, जिन्होंने सफलतापूर्वक इस 'मार्ग' को तय कर लिया हो और ईश्वर से सीधा संवाद स्थापित कर लिया हो।

iv) शिष्य (*मुरीद*) कई 'पड़ावों' और 'चरणों' से गुजरता है। वह ईश्वर में ध्यान लगाने और ध्यान केंद्रित करने (*ज़िक्र*) और आत्म-संताप, ईश्वर का नाम बार-बार जपना जैसे आध्यात्मिक अभ्यासों से गुजरता है।

v) सूफ़ी आवेग उत्पन्न करने वाले संगीत आयोजनों (*समा*) का सहारा लेते थे। इस '*समा*' का उपयोग परमानंद की अनुभूति प्राप्त करने के लिए किया जाता था। कुछ सूफ़ी मत कुछ खास किस्म के संगीत आयोजनों या '*समा*' को मंजूरी नहीं देते थे। *उलमा* इस प्रथा के बिलकुल खिलाफ थे।

vi) सूफ़ी मत अनेक *सिलसिलों* में विभक्त था। सभी *सिलसिले* अपने संस्थापक के नामों पर आधारित थे, जैसे सुहरावर्दी, कादिरी, चिश्ती, आदि। एक सूफ़ी गुरु और उसके शिष्यों को मिलाकर एक *सिलसिले* का निर्माण होता था।

vii) सूफ़ी मत की गतिविधियों का केंद्र एक आश्रम (***खानकाह***) होता था। यहाँ *पीर* अपने शिष्यों को आध्यात्मिक शिक्षा दिया करता था। *पीर* की ख्याति और प्रतिष्ठा पर *खाऩकाह* की लोकप्रियता आधारित होती थी। जो *पीर* जितना ज्यादा प्रतिष्ठित होता था, उसके *खाऩकाह* में शिष्यों की संख्या भी उतनी ही अधिक होती थी। इन *खाऩकाहों* को दान और वृत्ति मिला करती थी।

15.3 इस्लामी विश्व में सूफ़ी आंदोलन का विकास

भारत में 13वीं शताब्दी के आरंभ में सूफ़ी *सिलसिलों* ने अपनी गतिविधियाँ शुरू कीं। पर इसके काफी पहले इस्लामी प्रभाव के विभिन्न क्षेत्रों में सूफ़ी मत एक सशक्त आंदोलन के रूप में फैल चुका था। भारतीय परिवेश में सूफ़ी मत का एक खास स्वरूप उभरकर आया। पर अपने विकास के आरंभिक चरण में भारतीय सूफ़ी मत इस्लामी दुनिया में विकसित सूफ़ी मान्यताओं और प्रथाओं से प्रभावित हुआ। इस्लामी देशों में 7वीं से 13वीं शताब्दी के बीच सूफ़ी मान्यताओं और प्रथाओं का विकास हुआ था। इस काल में इस्लामी देशों में विकसित सूफ़ी मत को तीन प्रमुख चरणों में विभक्त किया जा सकता है।

15.3.1 आरंभिक चरणः 10वीं शताब्दी तक

आरंभिक दौर में सूफ़ियों ने *कुरान* की आयतों को रहस्यात्मक अर्थ देने की कोशिश की। *कुरान* में उल्लिखित सद्गुणों, जैसे पश्चाताप (*तौबा*), परहेज, संन्यास, गरीबी, ईश्वर में विश्वास (*तवक्कुल*), आदि की उन्होंने गूढ़ व्याख्या की। सूफ़ी आंदोलन के आरंभिक केन्द्रों में मक्का, मदीना, बसरा और कूफा प्रमुख हैं। आठवीं शताब्दी के सूफ़ियों को 'मौनी' कहा गया, क्योंकि वे मौन रहकर अपनी साधना में लीन रहते थे और जनता के बीच जाकर सूफ़ी मत का प्रचार नहीं करते थे। वे शिक्षा देने की अपेक्षा मार्गदर्शन करने में अधिक विश्वास रखते थे। महिला सूफ़ी राबिया (मृत्यु 801) के काल में बसरा में सूफ़ी मत अपने चरमोत्कर्ष पर था।

ईरान, खुरासान, ट्रांसऑक्सियाना, मिस्र, सीरिया और बगदाद में भी इस काल में सूफ़ी मत का विकास हुआ। ईरानी क्षेत्रों में सूफ़ी मत पर ईरानी विचारों का प्रभाव पड़ा और इसमें व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों तथा गैर-परम्परावादी सिद्धांतों और मान्यताओं का समावेश हुआ। ईरान के आरंभिक सूफ़ियों में खुरासान के बायज़िद बिस्तामी (मृ. 874) का नाम प्रमुख है। अपने सूफ़ी मत में उन्होंने न्याय और 'सब कुछ ईश्वर में है' जैसे गूढ़ सिद्धांतों का समावेश कर इस मत को एक नया रूप दिया। उन्होंने सूफ़ी मत में अहम् के दमन (*फना*) की अवधारणा का समावेश किया। बाद के सूफ़ियों ने भी इस सिद्धांत को अपनाया।

अपने आरंभिक दौर में सूफ़ी बगदाद में भी सक्रिय थे। बगदाद अब्बासी खलीफा, अल-जुनैद, की राजधानी थी। अल-जुनैद (मृ. 910) को कट्टरपंथी इस्लामी वर्ग का समर्थन प्राप्त था। उसके सूफ़ी मत को नियंत्रित और मर्यादित माना जाता था, अतः इस मत को मानने वाले लोग मर्यादित माने गये। अपने समकालीन और बाद के सूफ़ियों पर जुनैद और बिस्तामी दोनों का अच्छा खासा प्रभाव था। इन दोनों द्वारा स्थापित मत एक दूसरे से काफी भिन्न थे। इन्हें जुनैदी और बिस्तामी या ईराकी और खुरासानी के नाम से जाना जाता है।

बगदाद के आरंभिक सूफ़ियों में मंसूर अल-हल्लाज (मृ. 923) का नाम उल्लेखनीय है। पहले वह अल-जुनैद के शिष्य थे, पर बाद में उन्होंने बायज़िद बिस्तामी का मार्ग अपनाया। उनके रहस्यवादी कथन 'मैं ईश्वर हूँ' ने सूफ़ी आंदोलन को एक नया आयाम दिया। इसने ईरान और भारत में सूफ़ी विचारों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। *उलमा* ने 'ईश्वर निंदक' कहकर उनकी आलोचना की और कहा कि ईश्वर से एकाकार होने का उनका दावा एक छल है। उनकी आलोचना की गई, बंदी बनाया गया और अंततः फाँसी पर चढ़ा दिया गया। उनके सिद्धांतों के आधार पर ही '*इंसान-ए कामिल*' (श्रेष्ठ मानव) की अवधारणा विकसित हुई।

आरंभ में विभिन्न सूफ़ी मत बहुत संगठित नहीं थे और वे एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहते थे। ये लोग छोट-छोटे समूहों में किसी समर्थ गुरु की तलाश में भटकते रहते थे। अरब क्षेत्र में ये घुमक्कड़ सूफ़ी *रिबात* या सीमांत आश्रय स्थलों से जुड़े होते थे। ईरानी क्षेत्र में ये आश्रमों (*खानकाहों*) से जुड़े होते थे। महिला सूफ़ियों के आश्रय स्थल अलग होते थे।

15.3.2 संगठित सूफ़ी आंदोलन का विकासः 10वीं-12वीं शताब्दी

10वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 11वीं शताब्दी के दौरान जब मध्य एशिया और ईरान में पहले गज़नवियों और बाद में सेलजुकों के अधीन तुर्की शासन कायम हुआ तब सूफ़ी मत एक संगठित आंदोलन के रूप में विकसित हुआ। इस काल के दौरान इस्लामी दुनिया में दो समानांतर संस्थाओं का विकास हुआ।

क) *मदरसा* व्यवस्था (धार्मिक शिक्षा का उच्च स्थान): यह कट्टरपंथी इस्लामी शिक्षा की मान्य संस्था थी, और ख) सूफ़ी गतिविधियों के संगठित और स्थायी केन्द्र के रूप में *खानकाह* व्यवस्था का नया स्वरूप सामने आया।

खानक़ाह अब सूफ़ियों की व्यक्तिगत गतिविधि का केन्द्र न रहकर सूफ़ी शिक्षा के संस्थागत केन्द्र के रूप में उभरकर सामने आया। पर गुरु और शिष्य का संबंध अभी भी व्यक्तिगत था और इसने अब तक रहस्यमय और आनुष्ठानिक स्वरूप अख्तियार नहीं किया था। अभी सूफ़ी संप्रदाय सही ढंग से आकार नहीं ग्रहण कर सका था। पर *खानक़ाहों* का स्वरूप बदल चुका था। अब ये सूफ़ियों के आश्रय स्थल मात्र न थे बल्कि सूफ़ी मत और मान्यताओं के सुस्थापित केन्द्र थे। इसमें एक आध्यात्मिक गुरु अपने शिष्यों के साथ रहा करता था।

उलमा सूफ़ी मत को हमेशा संदेह की नज़र से देखते थे। उन्हें खासकर परम आनंद की ओर ले जानी वाली *समा* जैसी गैर-परम्परावादी प्रथाओं से सख्त नफरत थी। कट्टरपंथी इस्लामी शिक्षा प्राप्त कुछ सूफ़ियों ने *उलमा* और सूफ़ियों के बीच एक प्रकार का संतुलन स्थापित करने की कोशिश की। अबू हमीद अल-ग़जाली (1058-1111) इस प्रकार के सूफ़ियों में सर्वप्रथम थे। आरंभ में वह *आलिम* (धर्म प्रवक्ता) थे, पर बाद में उन्होंने सूफ़ी की जिंदगी बसर की। उन्होंने सूफ़ी मत में बाह्य इस्लामी कानूनों का और औपचारिक सिद्धान्तों का पालन करने पर जोर दिया। पर इस्लाम में कट्टरपंथी और सूफ़ी मत की प्रवृत्तियाँ अलग-अलग रास्तों पर ही विकसित हुईं।

इस दौर में सूफ़ी साहित्यिक ग्रंथ रचे गये। इनमें सूफ़ी विचारों और सिद्धांतों को सूत्रबद्ध किया गया। अल-ग़ज़ाली सर्वप्रमुख सूफ़ी लेखक थे। अल-हुजविरि (मृ.1088) ने *कश्फ-उल महजूब* की रचना की। इसे सूफ़ी मत का प्रामाणिक और मान्य ग्रंथ माना जाता है।

इस काल में सूफ़ी मत की एक अन्य विशेषता फ़ारसी में लिखित कविताओं का विकास था। अरबी सूफ़ी साहित्य गद्यात्मक था, और फारसी साहित्य पद्यात्मक। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के दौरान फारसी भाषा में लिखित वर्णनात्मक कविताएँ (*मसनवी*) अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गयीं। फरीदुद्दीन अत्तार (मृ.1220) और जलालुद्दीन रूमी (मृ.1273) इसके प्रमुख प्रतिपादक थे।

15.3.3 सूफ़ी सम्प्रदायों/*सिलसिलों* की स्थापनाः 12वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और तेरहवीं शताब्दी

i) भारतीय सामाजिक और धार्मिक जीवन को सूफ़ी मत ने प्रभावित किया। पर भारत में इसके प्रभावी होने के कई दशक पूर्व मुस्लिम देशों में सूफ़ी आंदोलन एक संगठित रूप ले चुका था और कई मार्ग (*तरीक़ा*) या सूफ़ी सम्प्रदाय कायम हो चुके थे। बारहवीं शताब्दी से ये सम्प्रदाय आकार ग्रहण करने लगे थे। अधिकांश केन्द्रों का विकास एक गुरु विशेष के नेतृत्व में हुआ। आध्यात्मिक गुरु-शिष्य परम्परा की शुरुआत भी हुई। इनका अलग *तरीक़ा* था, इनकी प्रथाएँ और अनुष्ठान अलग-अलग थे। इस प्रकार विभिन्न सूफ़ी सम्प्रदाय (*सिलसिले*) कायम हुए। इसमें एक के बाद दूसरा गुरु आध्यात्मिक उत्तराधिकारी (*खलीफा*) अथवा *सिलसिले* का प्रधान बनता था और सम्प्रदाय की आध्यात्मिक शिक्षा का पालन करते हुए अपने को उससे जोड़कर रखता था।

ii) *सिलसिले* के आध्यात्मिक प्रधान और उसके शिष्यों के संबंध ने अब एक आनुष्ठानिक स्वरूप ग्रहण कर लिया। अब शिष्य को *सिलसिले* में शामिल होने के लिए कई प्रकार के अनुष्ठानों से गुजरना पड़ता था और निष्ठा की शपथ लेनी पड़ती थी। *खानक़ाह* में शिष्यों के दैनिक जीवन को नियंत्रित करने के लिए प्रत्येक *सिलसिले* के अपने अलग-अलग संस्थागत नियम थे। आध्यात्मिक गुरु (*मुर्शिद*) को अब ईश्वर का प्रतिनिधि (*वली*) के रूप में देखा जाने लगा। *मुरीद* (*शिष्य*) को अपने *मुर्शिद* के समक्ष पूर्ण समर्पण करना होता था। इसके बदले में *मुर्शिद* अपने *मुरीद* को *तरीक़ा*, इसका गुप्त *विर्द* (आध्यात्मिक स्व-उत्थान के लिए *कुरान* की कुछ आयतों का अनवरत उच्चारण), नियम और प्रतीकों की दीक्षा देता था।

iii) कई सिलसिलों के संस्थापकों ने इस्लामी कानून और इस्लाम के अनुष्ठानों को अपना लिया। कई *सिलसिलों* के संस्थापक पेशेवर *काज़ी* थे, इससे भी *सिलसिला* संस्थापक और कट्टरपंथी इस्लाम के संबंध का पता चलता है। पर उन्होंने कट्टरपंथी इस्लामी अनुष्ठानों को एक

रहस्यात्मक आवरण दे दिया और नये प्रयोग किए। उन्होंने कई धार्मिक प्रथाएँ लागू कीं, जो कट्टरपंथी इस्लामी दृष्टिकोण से मेल नहीं खाती थीं। हालांकि *सिलसिला* के संस्थापकों ने इस्लामी कानून के पालन पर विशेष जोर दिया, पर कई *सिलसिलों* में गैर-परम्परावादी मान्यताएँ और प्रथाएँ स्थापित हुईं।

iv) ईरान, मध्य एशिया तथा बगदाद में सक्रिय लोकप्रिय *सिलसिलों* के नाम नीचे दिये जा रहे हैं। इन्होंने इस्लामी दुनिया में सूफ़ी मत के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। शेख शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी (मृ. 1234) द्वारा स्थापित सुहरावर्दी, शेख अब्दुल कादिर जिलानी (मृ. 1166) द्वारा स्थापित *कादिरी*, मुइनुद्दीन चिश्ती (मृ. 1236) द्वारा स्थापित *चिश्ती* और बहाउद्दीन नक्शबंदी (मृ. 1398) द्वारा स्थापित नक्शबंदी (पहले इसे *ख्वाजगान* के नाम से जाना जाता था) प्रमुख *सिलसिले* थे। इन *सिलसिलों* में दीक्षित सूफ़ी अपने-अपने देश या देशों (जैसे भारत) में उनकी शाखाएँ स्थापित करने लगे। शनैः-शनैः ये शाखाएँ अलग और स्वतंत्र सूफ़ी मत के रूप में विकसित हुईं और इनकी विशेषताएँ और प्रवृत्तियाँ भी अलग हो गयीं।

v) इस्लामी देशों (ईरान, खुरासान और ट्रांसऑक्सियाना) और भारत, आदि देशों में सूफ़ी मत इन तीन चरणों से गुजरने के क्रम में ईसाई मत, नवप्लेटोवाद, बौद्ध धर्म और हिंदू धर्म के सम्पर्क में आया और इन धर्मों की कई प्रवृत्तियों और दर्शनों को आत्मसात किया। पर इस आंदोलन का मूल ढाँचा इस्लाम से ही प्रेरित रहा।

बोध प्रश्न-1

1) सूफ़ी मत की प्रमुख विशेषताएँ क्या थीं?

.....

.....

.....

2) सूफ़ी शब्दावली में *पीर* और *मुरीद* की अवधारण क्या है?

.....

.....

.....

3) सूफ़ी *सिलसिले* से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

4) निम्नलिखित में प्रत्येक पर दो पंक्तियाँ लिखें:

i) *खानक़ाह* .....

.....

ii) मंसूर अल-हल्लाज .....

.....

iii) अल-जुनैद .....

.....

15.4 भारत में सूफ़ी मत का विकास

भारत आकर बसने वाले आरंभिक सूफ़ियों में अल-हुजविरि (लगभग 1088) सर्वप्रमुख थे (देखें भाग 15.6)। उनकी *दरगाह/* मज़ार लाहौर में है। उन्होंने *कश्फ-उल महजूब* नामक ग्रंथ की रचना की थी। फ़ारसी में रचित यह ग्रंथ सूफ़ी मत पर लिखा एक मानक दस्तावेज है। लेकिन भारत में सूफ़ी संप्रदायों की स्थापना 13वीं शताब्दी के आरंभ में दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बाद हुई। सूफ़ी मत के प्रचार-प्रसार के लिए भारत एक अनुकूल जगह सिद्ध हुई। यह सूफ़ियों के लिए शरण स्थल

भी बना। 13वीं शताब्दी में इस्लामी दुनिया पर मंगोलों के आधिपत्य के बाद सूफियों को वहाँ से भागना पड़ा। भागकर वे सीधे भारत आए। 13वीं-14वीं शताब्दी के दौरान भारत में जगह-जगह *खानक़ाह* स्थापित हो गए। इन सूफ़ियों ने भारत में इस्लामी दुनिया के कई संप्रदाय स्थापित किए, अपनी संस्थाएँ विकसित कीं और जहाँ इनका प्रभाव जमा वहाँ ये स्थापित हो गए। 14वीं शताब्दी के मध्य तक मुल्तान से लेकर बंगाल तक और पंजाब से लेकर देवगिरि तक समूचे देश में वे सक्रिय हो गए। आरंभिक 13वीं शताब्दी के एक यात्री के अनुसार, दिल्ली और इसके आसपास दो हज़ार आश्रय स्थल और *खानक़ाह* स्थापित थे।

मूल रूप से भारत में स्थापित सूफ़ी मत का आधार इस्लामी दुनिया, खासकर ईरान और मध्य एशिया, में स्थापित सूफ़ी सिद्धांत और मान्यताएँ थीं। पर भारत में स्थापित होने के बाद इसके विकास में सूफ़ी मत के अभारतीय तत्वों की अपेक्षा भारतीय परिवेश की ज्यादा भूमिका थी। एक बार भारत में जड़ जमा लेने के बाद उनका अलग ढंग से विकास, अवनति और उत्थान हुआ। हालांकि भारतीय सूफ़ी मत पर बाहरी सूफ़ीमत के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता है, पर यह भारतीय परिवेश में बढ़ा और फला-फूला।

15.5 भारत में सल्तनत काल के दौरान सूफ़ी *सिलसिले*

भारत में सल्तनत काल के दौरान कई *सिलसिले* लोकप्रिय हुए। यहाँ हम उनमें से कुछ प्रमुख *सिलसिलों* की चर्चा करेंगे।

15.5.1 सुहरावर्दी *सिलसिला*

सुहरावर्दी *सिलसिला* सल्तनत काल का प्रधान सूफ़ी *सिलसिला* था। भारत में इसके संस्थापक शेख बहाउद्दीन ज़क़रिया (1182-1262) थे। वह एक खुरासानी थे और शेख शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी के शिष्य थे, जिन्होंने बगदाद में इस *सिलसिले* की शुरुआत की थी। शेख शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी के आदेश से शेख बहाउद्दीन ज़क़रिया भारत आए। मुल्तान और सिंध को उन्होंने अपनी गतिविधि का केंद्र बनाया। अतः उन्होंने मुल्तान में जिस *खानक़ाह* की स्थापना की, उसकी गिनती भारत में स्थापित आरंभिक *खानक़ाहों* में होती है। उस समय दिल्ली का सुल्तान इल्तुतमिश था, पर मुल्तान पर उसके प्रतिद्वंद्वी कुबाचा का आधिपत्य था। शेख बहाउद्दीन ज़क़रिया कुबाचा के प्रशासन की आलोचना किया करते थे। इल्तुतमिश तथा मुल्तान के शासक कुबाचा के बीच हुए संघर्ष में शेख ने खुलेआम इल्तुतमिश का पक्ष लिया। कुबाचा के पतन के बाद इल्तुतमिश ने बहाउद्दीन ज़क़रिया को *शेख-उल इस्लाम* (इस्लाम का प्रमुख) का खिताब दिया और अनुदान प्रदान किया। समकालीन चिश्ती संतों के विपरीत उन्होंने व्यावहारिक नीति अपनाई और काफी संपत्ति इकट्ठी की। उन्होंने राज्य का संरक्षण स्वीकार किया और शासक वर्ग से अपना संबंध बनाए रखा। लेकिन बाद में इस संप्रदाय से कई स्वतंत्र शाखाओं का जन्म हुआ। इनमें से कुछ को *'बेशरा'* (अवैद्य संप्रदाय; जिन्होंने *शरीयत* की अवहेलना की) भी कहा जाता था।

शेख शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी ने शेख बहाउद्दीन ज़क़रिया के अलावा कई अन्य *खलीफाओं* (प्रमुख शिष्य) को सुहरावर्दी *सिलसिला* के प्रचार-प्रसार के लिए भारत भेजा। शेख जलालुद्दीन तबरीज़ी उन्हीं में से एक थे। दिल्ली में अपना प्रभुत्व जमाने में वह असफल रहे और बंगाल चले गए। वहाँ उन्होंने अपनी *खानक़ाह* स्थापित की और कई शिष्य बनाए। उन्होंने अपने *खानक़ाह* में *लंगर* (मुफ्त भोजन) की भी व्यवस्था की। यह कहा जाता है कि बंगाल में इस्लामीकरण की प्रक्रिया में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सल्तनत काल में पंजाब, सिंध और बंगाल सुहरावर्दी गतिविधि के तीन प्रमुख केंद्र थे। विद्वानों की आम राय है कि सुहरावर्दी सूफ़ियों ने हिंदुओं को इस्लाम धर्म अपनाने को प्रेरित किया और इसमें उन्हें शासक वर्ग की सहायता मिली। इस दृष्टि में सुहरावर्दी और चिश्ती सूफ़ियों में जमीन-आसमान का फर्क था, चिश्ती सूफ़ियों ने धर्म परिवर्तन करना अपनी शिक्षाओं का लक्ष्य नहीं बनाया।

15.5.2 चिश्ती *सिलसिला*

सल्तनत काल में चिश्ती संप्रदाय का विकास दो चरणों में संपन्न हुआ। 1356 में शेख नसीरूद्दीन (चिराग-ए दिल्ली) की मृत्यु के बाद प्रथम चरण समाप्त हुआ। 14वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इसकी

अवनति हुई। दूसरे चरण की शुरुआत 15वीं-16वीं शताब्दी में पूरे देश में इसके पुनरुत्थान और प्रसार से हुई।

प्रथम चरण

भारत में स्थित सूफ़ी संप्रदायों में चिश्ती संप्रदाय सबसे लोकप्रिय था। इसका प्रारंभ हेरात में हुआ था। सिजिस्तान में जन्मे (लगभग 1141) ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती ने भारत में इस संप्रदाय की स्थापना की (मृत्यु 1236)। वे गौरी के आक्रमण के समय भारत आये। 1206 में अंतिम रूप से वे अजमेर में बस गए और उन्हें मुसलमानों और गैर-मुसलमानों सभी का आदर प्राप्त हुआ। उनके कार्यकलापों का कोई प्रमाणिक दस्तावेज उपलब्ध नहीं है। बाद में, कई दंतकथाओं में उन्हें इस्लाम धर्म के उत्साही प्रचारक के रूप में दर्शाया गया। पर असलियत यह है कि उन्होंने धर्म परिवर्तन में कभी सक्रिय हिस्सा नहीं लिया और गैर-मुस्लिमों के प्रति उनका दृष्टिकोण उदारवादी था। आने वाली शताब्दियों में अजमेर स्थित उनकी मज़ार प्रमुख तीर्थस्थल बन गई।

दिल्ली में ख्वाजा कुतबुद्दीन बख्तियार काकी (मृत्यु 1235) ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती के उत्तराधिकारी थे। शेख मुइनुद्दीन चिश्ती के एक दूसरे *खलीफा* शेख हमीदुद्दीन नागौरी (मृत्यु 1274) ने राजस्थान में नागौर को अपनी गतिविधि का केंद्र बनाया। शेख हमीदुद्दीन नागौरी ने नागौर में एक *सिलसिला* स्थापित किया और वे वहाँ एक साधारण राजस्थानी किसान की तरह रहने लगे। उन्होंने शासन से जुड़े लोगों के साथ संबंध भी नहीं रखा। वह शुद्ध रूप से शाकाहारी थे। उन्होंने और उनके उत्तराधिकारियों ने फ़ारसी में लिखे पदों को स्थानीय भाषा हिंदवी में अनूदित किया। इस प्रकार के अनुवाद का हिंदुस्तान में यह प्रथम उदाहरण है।

दिल्ली में ख्वाजा कुतबुद्दीन बख्तियार काकी के *खलीफा* ख्वाजा फरीदुद्दीन मसूद (1175-1265) उनके उत्तराधिकारी बने। वह गंज शकर या बाबा फरीद के नाम से ज्यादा जाने जाते थे। बाबा फरीद दिल्ली छोड़कर पंजाब में अजोधन चले गए और वहाँ *खानक़ाह* में रहने लगे। उन्होंने शासक और अमीर वर्ग से कोई संबंध नहीं रखा। नाथपंथी योगी उनकी *खानक़ाह* में आकर रहस्यवाद के स्वरूप पर बहस किया करते थे। पंजाब में उनकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा परिणाम यह है कि उनकी मृत्यु के 300 वर्ष बाद भी उनके पदों को 1604 में सिखों के पाँचवें गुरु, अर्जन द्वारा *आदि ग्रंथ* में संकलित किया गया। पाकपटन स्थित उनकी मज़ार शीघ्र ही एक तीर्थस्थल बन गया।

बाबा फरीद के ख्यातिलब्ध और 14वीं शताब्दी के प्रमुख सूफ़ी संत शेख निज़ामुद्दीन औलिया (1236-1325) को कौन नहीं जानता है। उन्होंने दिल्ली को चिश्ती संप्रदाय का केंद्र बनाया। उनके समकालीन दो इतिहासकार ज़ियाउद्दीन बरनी और अमीर खुसरो ने 13वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 14वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उत्तर भारत के सामाजिक और धार्मिक जीवन में उनके महत्व को रेखांकित किया है। बाद में, उनके उत्तराधिकारियों ने देश के विभिन्न भागों में चिश्ती संप्रदाय का प्रचार-प्रसार किया। अमीर हसन सिज्ज़ी लिखित *फवायद-उल फुवाद* में उनकी शिक्षा और वार्तालाप (***मलफूज़ात***) संकलित हैं। इसमें दार्शनिक और रहस्यात्मक बातों का समावेश नहीं है, बल्कि इसमें सूफ़ी मत के व्यवहारिक पक्ष का उल्लेख किया गया है।

शेख निज़ामुद्दीन औलिया के जीवन-काल में एक के बाद एक सात शासक दिल्ली सल्तनत की गद्दी पर बैठे। पर उन्होंने हमेशा शासकों और अमीरों से दूर रहने की कोशिश की और कभी किसी शासक के दरबार में पैर नहीं रखा। उनकी *खानक़ाह* के *लंगर* (मुफ्त भोजन व्यवस्था) का द्वार हिंदू और मुसलमानों के लिए समान रूप से खुला रहता था। अपनी *खानक़ाह* में वे अनेक नाथपंथी योगियों से शास्त्रार्थ और वार्तालाप करते थे। योग के कई अभ्यासों पर उनकी पकड़ थी और योगी उन्हें *सिद्ध* (संपूर्ण) कहा करते थे। अमीर खुसरो (1253-1325) शेख निज़ामुद्दीन औलिया के परम निष्ठावान शिष्य थे।

शेख निज़ामुद्दीन औलिया के कई आध्यात्मिक शिष्य या *खलीफा* हुए। शेख बुरहानुद्दीन ग़रीब (मृत्यु 1340) उनमें से एक थे। मुहम्मद तुगलक ने उन्हें दक्खन जाने को मजबूर किया। उन्होंने दौलताबाद को अपना केंद्र बनाया और वहाँ चिश्ती संप्रदाय का प्रचार-प्रसार किया।

दिल्ली में शेख नसीरूद्दीन महमूद (मृत्यु 1356) शेख निज़ामुद्दीन औलिया के प्रमुख खलीफा और उत्तराधिकारी थे। उन्हें चिराग-ए दिल्ली (दिल्ली का दीप) के नाम से भी जाना जाता था। उन्होंने

और उनके कुछ शिष्यों ने चिश्ती संप्रदाय की उन प्रथाओं को छोड़ दिया, जो कट्टरपंथी इस्लाम के साथ टकराती थीं। दूसरी तरफ उन्होंने *उलमा* से अनुरोध किया कि चिश्ती संप्रदाय की प्रमुख प्रथा *समा* के प्रति अपना कड़ा रुख नरम कर लें।

बाद के तुगलक और सैय्यद शासकों के काल में दिल्ली में चिश्ती संप्रदाय का पतन

कुछ विद्वानों का मानना है कि दिल्ली में चिश्ती संप्रदाय के पतन का कारण सुल्तान मुहम्मद तुगलक का रवैया और नीतियाँ थीं। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्तिगत रूप से सुल्तान सूफ़ियों का विरोधी नहीं था। सुल्तान ने सूफियों को राज्य की सेवा स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। इसके बावजूद कुछ सूफ़ी, यहाँ तक कि शेख नसीरूद्दीन चिराग-ए दिल्ली भी पूरे समय दिल्ली में ही रहे। मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी फिरोज़ शाह तुगलक ने सूफ़ियों को धार्मिक दान दिया और *खानक़ाह* फिर सक्रिय हो उठे। 1356 में शेख नसीरूद्दीन की मृत्यु के बाद दिल्ली में कोई ख्याति प्राप्त चिश्ती हस्ती नहीं रह गई। अपने किसी धार्मिक उत्तराधिकारी की नियुक्ति किए बगैर उनकी मृत्यु हो गई। तैमूर के आक्रमण (1398) के समय उनका एक शिष्य गेसूदराज़ दिल्ली छोड़कर दक्खन जैसी सुरक्षित जगह चला गया। दिल्ली सल्तनत के पतन के बाद सूफ़ी अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व प्राप्त राज्यों में फैलने लगे और उन्होंने वहीं अपने *खानक़ाह* स्थापित किए। 14वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 15वीं शताब्दी के चिश्ती संप्रदाय देश के विभिन्न भागों में फैल गए। इससे चिश्ती सूफ़ियों के दृष्टिकोण और प्रथाओं में मूलभूत बदलाव आया।

द्वितीय चरण

सल्तनत काल में शेख नसीरूद्दीन की मृत्यु के बाद चिश्ती *सिलसिले* का पतन आरंभ हुआ और दिल्ली से बिखरकर यह विभिन्न क्षेत्रीय राज्यों में फैल गया। यहीं से चिश्ती *सिलसिलों* के इतिहास का दूसरा दौर शुरू होता है। 13वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही सूफ़ी दक्खन की ओर जाने लगे थे, पर दक्खन में चिश्ती संप्रदाय की नींव मुहम्मद तुगलक के शासनकाल में शेख बुरहानुद्दीन ग़रीब ने डाली। बाद में, कई सूफ़ी चिश्ती बहमनी राज्य (1347-1538) की राजधानी गुलबर्गा जाकर बस गए। गुलबर्गा में इन सूफ़ियों ने दरबार से अपना रिश्ता कायम किया और राज्य संरक्षण स्वीकार किया। इस प्रकार शासक वर्ग के प्रति चिश्ती संप्रदाय के रवैये में परिवर्तन आ गया। दूसरी तरफ बहमनी शासकों ने उन्हें अपने पक्ष में करने के लिए भूमि अनुदान प्रदान किए।

मुहम्मद बंदा नवाज़ (लगभग 1321-1422) इन चिश्तियों में प्रमुख थे। वह दक्खन चले गए और बहमनी सुल्तान फ़िरोज शाह बहमनी (1397-1422) से बतौर भू-अनुदान चार गाँव प्राप्त किए। वह कट्टरपंथी सूफ़ी थे और उन्होंने सूफ़ी मत की मान्यताओं की अपेक्षा इस्लामी कानून (*शरीयत*) को प्रमुखता दी। गेसूदराज़ ने चिश्तियों की उन सभी प्रथाओं को छोड़ दिया जो कट्टरपंथी *उलमा* को नहीं भाती थीं। अपने पूर्ववर्ती चिश्ती गुरुओं के विपरीत उन्होंने *तसव्वुफ* पर या सूफ़ी चिंतन पर खूब लिखा। उनकी मृत्यु के बाद भी बहमनी सुल्तान उनके परिवार को भू-अनुदान देते रहे। गुलबर्गा स्थित उनकी ***दरगाह*** बाद में दक्खन का एक प्रमुख तीर्थ स्थल बन गई। पर उनके बाद किसी ने चिश्ती संप्रदाय में रुचि नहीं दिखाई और उनके परिवारजन भूमिधर कुलीन वर्ग का जीवन व्यतीत करने लगे। इससे उस क्षेत्र में चिश्ती संप्रदाय का अंत हो गया। 1422 सी ई में बहमनी राज्य की राजधानी गुलबर्गा से बदलकर बीदर हो गई। इस कारण भी गुलबर्गा में चिश्ती संप्रदाय का पतन हो गया।

पर 15वीं शताब्दी के अंत में एक बार फिर चिश्ती संप्रदाय शक्ति अर्जित करने लगा और 16वीं-17वीं शताब्दी तक इसका विकास हुआ। आदिल शाही सुल्तानों की राजधानी बीजापुर शहर के ठीक बाहर शाहपुर की पहाड़ी पर इनका नया केंद्र स्थापित हुआ। शाहपुर पहाड़ी पर स्थापित चिश्ती संप्रदाय गुलबर्गा में स्थापित चिश्ती संप्रदाय से भिन्न था। इन्होंने दरबार और *उलमा* से दूरी बनाए रखी और स्थानीय तत्वों को अपना आधार बनाया। इस प्रकार शाहपुर के सूफ़ी अपने दृष्टिकोण में दिल्ली स्थित आरंभिक चिश्तियों से काफी मिलत-जुलते थे। पर यह याद रखना चाहिए कि शाहपुर स्थित चिश्ती संप्रदाय दिल्ली और गुलबर्गा स्थित चिश्ती संप्रदाय से बिल्कुल अलग रहकर विकसित हुआ।

उत्तर भारत में 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 16वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चिश्ती संप्रदाय का

पुनरुत्थान हुआ। चिश्ती संप्रदाय की तीन शाखाएँ उभर कर सामने आईं, नागौरी (शेख हमीदुद्दीन नागौरी के नाम पर), साबिरी (शेख अलाउद्दीन कालियारी के नाम पर), और निज़ामी (शेख निजामुद्दीन औलिया के नाम पर)। 15वीं श्ताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा 16वीं शताब्दी के आरंभ में शर्की सुल्तानों की राजधानी जौनपुर भी इस समय उत्तर भारत में चिश्ती संप्रदाय का केंद्र बना। 15वीं शताब्दी के आरंभ में लखनऊ के निकट रुदौली में भी चिश्ती केंद्र स्थापित हुआ। लोदी काल में बहराइच (आधुनिक उत्तर प्रदेश में) भी चिश्ती संप्रदाय का केंद्र बना। शेख अब्दुल कुद्दूस गंगोही (1456-1537) ने उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले के गंगोह में एक प्रमुख केंद्र स्थापित किया।

दूसरे दौर में बंगाल और मालवा में चिश्ती केंद्र स्थापित हुए। दूसरे दौर के कई सूफ़ी संतों ने अरबी और फ़ारसी के मानक ग्रंथों पर भाष्य लिखे और संस्कृत में रहस्यवाद पर लिखी पुस्तकों का अनुवाद फ़ारसी में किया। दिल्ली के आरंभिक सूफ़ियों की तरह बाद के चिश्ती सूफ़ियों ने समाज के सभी तबके के लोगों को अपना शिष्य बनाया। पर उन्होंने अपने पूर्ववर्ती चिश्तियों की मान्यताओं के विपरीत राज्य का संरक्षण स्वीकार किया।

15.5.3 अन्य सूफ़ी *सिलसिले*

चिश्ती और सुहरावर्दी *सिलसिलों* के अलावा इस काल में भारत में फिरदौसी, कादिरी, शत्तारी, कलंदरी, आदि *सिलसिले* भी स्थापित हुए। फिरदौसी *सिलसिला* सुहरावर्दी *सिलसिले* की एक शाखा था। इसकी स्थापना 14वीं शताब्दी में बिहार में राजगीर में हुई थी। भारत में इस *सिलसिले* के सर्वप्रमुख सूफ़ी शेख शरफुद्दीन याहिया मनेरी (मृत्यु 1380) थे।

मध्यवर्ती इस्लामी देशों में कादिरी सर्वप्रमुख सूफ़ी *सिलसिला* था। इसकी स्थापना अब्दुल कादिर जिलानी (मृत्यु 1166) ने बगदाद में की थी। 14वीं शताब्दी में यह संप्रदाय भारत आया और पंजाब, सिंध तथा दक्खन को अपना केंद्र स्थल बनाया। कादरियों का दृष्टिकोण कट्टरपंथी था और इनका सिद्धांत कट्टरपंथी *उलमा* से मेल खाता था। कादिरी सूफियों के कई प्रांतीय राज्यों के शासक वर्ग से संबंध थे और उन्होंने राज्य की सहायता स्वीकार की। यह संप्रदाय शहर में केंद्रित था और इसका उद्देश्य गैर-इस्लामी प्रभावों से ग्रस्त भारतीय मुसलमानों की धार्मिक जिंदगी में सुधार लाना था।

15वीं-16वीं शताब्दी के दौरान कश्मीर में सूफ़ी मत का ऋषि संप्रदाय स्थापित हुआ। इस संप्रदाय के उदय से पूर्व धर्म प्रचारक मीर सैयद हमादानी (1314-1385) इस्लाम के प्रचार-प्रसार के लिए हमादान से अपने शिष्यों के साथ कश्मीर आए। हमादानी, उनके पुत्रों और शिष्यों के धार्मिक प्रचार का कश्मीर की जनता पर थोड़ा ही प्रभाव पड़ा। दूसरी तरफ, शेख नूरूद्दीन वली (मृत्यु 1430) द्वारा स्थापित ऋषि संप्रदाय मूलतः स्वदेशी था। यह कश्मीर के ग्रामीण परिवेश में फला-फूला और इसने 15वीं-16वीं शताब्दी के दौरान लोगों के धार्मिक जीवन को प्रभावित किया। ऋषि संप्रदाय की लोकप्रियता का यही कारण था। इसके अतिरिक्त, इसने कश्मीर की लोकप्रिय शैव भक्ति परंपरा से भी प्रेरणा ग्रहण की। यह *सिलसिला* क्षेत्र के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश में आकंठ डूबा हुआ था।

बोध प्रश्न-2

1) सुहरावर्दी *सिलसिला* की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित का वर्णन कीजिएः

क) चिश्ती *सिलसिला* के पाँच सूफियों का नामोल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

ख) भारत में फले-फूले पाँच सूफ़ी सम्प्रदायों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

3) शेख निज़ामुद्दीन औलिया पर एक संक्षिप्त टिपपणी लिखिए।

.....

.....

.....

4) दिल्ली से बाहर बसे चिश्ती संतों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

15.6 चिश्ती *सिलसिले* की लोकप्रियता के कारण

सल्तनत काल के सभी सूफ़ी संप्रदायों का उद्देश्य लगभग एक था – आध्यात्मिक गुरु के निर्देशन में सूफ़ी मार्ग अपनाते हुए ईश्वर से सीधा संवाद स्थापित करना। हाँ, प्रत्येक सूफ़ी संप्रदाय ने अलग-अलग अनुष्ठान और रीति-रिवाज़ अपनाए और राज्य तथा समाज के प्रति उनके दृष्टिकोण में भी अंतर था। इस काल के सभी संप्रदायों में चिश्ती संप्रदाय को सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई और इसका प्रसार भी व्यापक क्षेत्र में हुआ। चिश्ती संप्रदाय के अनुष्ठान, दृष्टिकोण और प्रथाओं ने इसे मूलतः एक भारतीय *सिलसिला* बना दिया था।

इसकी लोकप्रियता के कारणों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है:

i) चिश्ती संप्रदाय की कई प्रथाएँ भारत में स्थापित योगियों जैसे गैर-परंपरावादी संप्रदायों से काफी मिलती-जुलती थीं, जैसे ब्रह्मचारी और संन्यासी का जीवन व्यतीत करना, गुरु के समक्ष दंडवत करना, *सिलसिले* में शामिल होने वाले नए शिष्य का मुंडन करना, और भक्ति संगीत का आयोजन, आदि कुछ ऐसी ही प्रथाएँ थीं। इस दृष्टि से, चिश्तियों को भारतीय परंपरा के एक हिस्से के रूप में देखा जाने लगा।

ii) चिश्तियों ने भारत में गैर-मुसलमान जनसंख्या के प्रति धार्मिक सहिष्णुता का दृष्टिकोण अपनाया और अपने को भारतीय परिवेश में ढाल लिया। भारतीय अनुयायियों तक अपनी बात पहुँचाने के लिए चिश्तियों ने भारतीय प्रतीकों, मुहावरों, रीति-रिवाजों और अनुष्ठानों को अपना लिया। बहुत से चिश्ती संतों ने अपने मत के प्रचार-प्रसार के लिए हिंदवी भाषा का प्रयोग किया।

iii) चिश्ती *खानकाहों* के समतावादी परिवेश ने भारतीय समाज के निचले वर्ग के सदस्यों को काफी संख्या में आदृष्ट किया। चिश्ती संत समाज के पिछड़े वर्ग के प्रति सहानुभूति रखते थे और इसने उनके धार्मिक दृष्टिकोण को भी प्रभावित किया। चिश्ती *खानकाह* ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था से काफी दूर थे। व्यापारी, शिल्पी, किसान और यहाँ तक कि सफाईकर्मी भी चिश्ती संप्रदाय का अनुयाई हो सकता था। न ही उन्होंने तुर्की शासक वर्ग के प्रजातिगत विभाजन (कुलीन और अकुलीन) को स्वीकार किया।

iv) चिश्ती गुरुओं ने उच्च भावना से युक्त प्रेरणादायक नेतृत्व प्रदान किया। दरबार से वे दूर रहे और राज्य संरक्षण को उन्होंने अस्वीकार कर दिया, *उलमा* के कट्टरपंथी और बाहरी कर्मकांड संबंधी दृष्टिकोण को उन्होंने पूर्ण रूप से नकार दिया और इस्लाम की सरल मान्यताओं को सूफ़ी शिक्षा में घोल दिया। इन्हीं सब कारणों से चिश्ती संप्रदाय लोकप्रिय हुआ।

v) आरंभिक चिश्तियों को मरणोपरांत अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। बाद की शताब्दियों में उनकी *दरगाहों* के आसपास संतों की उपासना के केंद्र बनने लगे। कालांतर में, दंतकथाओं और जीवन लेखन के माध्यम से इन चिश्तियों की जादुई शक्ति की गाथाएँ फैलने लगीं। यह भी कहा जाने लगा कि उनकी जादुई शक्ति के कारण ही काफी लोग उनकी ओर आकर्षित हुए और उन्होंने गैर-मुसलमानों का धर्म परिवर्तन किया। आरंभिक चिश्ती संत चमत्कारी शक्ति की संभावनाओं में विश्वास रखते थे, पर उसके उपयोग को वे अस्वीकार करते थे। सूफ़ी मत और

मान्यता में वे चमत्कार को प्रमुख तत्व नहीं मानते थे। पर आरंभिक चिश्तियों की लोकप्रियता बढ़ाने में चमत्कार संबंधी गाथाओं ने काफी सहयोग दिया और इससे उनकी दरगाहों को भी ख्याति मिली।

15.7 सूफ़ियों की सामाजिक भूमिका

सूफ़ियों ने समाज में और कभी-कभी राजनीति में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। यहाँ हम विभिन्न क्षेत्रों में उनके योगदान का विश्लेषण करेंगे।

15.7.1 सूफ़ी और राज्य

आप पहले पढ़ चुके हैं कि आरंभिक *चिश्ती* सूफ़ियों और बीजापुर राज्य के शाहपुर के चिश्तियों के अलावा अन्य *सिलसिलों* से जुड़े अधिकांश सूफ़ियों ने, यहाँ तक कि बाद के चिश्तियों ने राज्य सहायता स्वीकार की और राज्य से जुड़े रहे। कई बार चिश्ती सूफ़ी सुल्तान की नीतियों का विरोध भी करते थे। मुहम्मद तुगलक के शासनकाल में ऐसा हुआ था। कुछ सूफ़ी शासन तंत्र का हिस्सा बन गये आरंभिक चिश्तियों ने ऐसा नहीं किया पर उन्होंने विभिन्न वर्गों और धार्मिक समुदायों के बीच सौहार्द का वातावरण बनाया जिससे राज्य के सुचारू रूप से संचालन में सहायता मिली।

चिश्ती गुरुओं सहित किसी सूफ़ी ने स्थापित राजनीतिक व्यवस्था और वर्ग संरचना पर भी प्रश्नचिह्न नहीं लगाया। उन्होनें राज्य के पदाधिकारियों से केवल यही कहा कि वे किसानों से राजस्व वसूलते समय नरमी बरतें। दूसरी तरफ उन्होंने अपने साधारण अनुयायियों को राज्य सहायता लेने और दरबार के मामलों में दखल देने से नहीं रोका। इसी कमी के कारण प्रगतिशील चिश्ती *सिलसिले* में भी बाद में राज्य संरक्षण और दरबारी राजनीति का प्रवेश हो गया।

15.7.2 सूफ़ी और *उलमा*

आपने गौर किया होगा कि *उलमा* बराबर सूफ़ियों को नकारते रहे। अल-गज़ाली ने उन दोनों के बीच समन्वय स्थापित करने की काफी कोशिश की, पर नाकाम रहे। सल्तनत काल में उन दोनों के बीच अविश्वास का भाव बना रहा, पर सुहरावर्दी, कादिरी, आदि जैसे सूफ़ी सम्प्रदायों ने *उलमा* का पक्ष लिया। *उलमा* खासकर चिश्ती सूफ़ियों और उनकी प्रथाओं के विरोधी थे। उन्होंने चिश्ती की *समा* प्रथा की आलोचना की और चिश्तियों द्वारा धार्मिक मेल स्थापित करने के प्रयत्न पर आपत्ति की। शेख नसीरूद्दीन (*चिराग-ए दिल्ली*) और गेसूदराज़ जैसे चिश्ती सूफ़ियों ने चिश्ती प्रथाओं के प्रति *उलमा* के आक्रोश को कम करने के लिए चिश्ती सम्प्रदाय को कुछ कट्टरपंथी आयामों से युक्त किया। हमने पढ़ा है कि चिश्ती दरबारी राजनीति में हिस्सा लेने लगे थे और दान स्वीकार करने लगे थे। उन्होंने *उलमा* से मिलते-जुलते सैद्धांतिक दृष्टिकोण अपना लिए।

15.7.3 सूफ़ी और धर्म परिवर्तन

सल्तनत काल में आये सूफ़ियों को आमतौर पर भारत में इस्लाम के प्रणेता के रूप में देखा जाता है। उत्तर मध्यकाल के कई लेखों और हवालों में सूफ़ियों को सक्रिय धर्म-संस्था (मिश्नरी) के रूप में वर्णित किया गया है। शेख मुइनुद्दीन चिश्ती पर लिखी एक जीवनी में बताया गया है कि गैर-मुसलमानों को इस्लाम धर्म में परिवर्तित कराने में उन्होंने सक्रिय हिस्सा लिया था। इसी प्रकार 13वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 14वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दक्खन की ओर जाने वाले सूफ़ियों के बारे में भी यही कहा गया कि वे इस्लाम के कट्टर प्रचारक थे और उन्होंने *जेहाद* (गैर-मुसलमानों के खिलाफ युद्ध) छेड़ रखा था। सुहरावर्दी सूफ़ियों में से कई सक्रिय धर्म प्रचारक थे। 14वीं शताब्दी में मीर सैय्यद अली हमादानी धर्म प्रचार और धर्म परिवर्तन के उद्देश्य से कश्मीर आया था, पर उसे वहाँ सफलता नहीं मिली। पर इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि सभी सूफ़ी इस धर्म परिवर्तन के चक्र में नहीं फंसे हुए थे। शेख मुइनुद्दीन चिश्ती धर्म-प्रचारक नहीं थे और न ही वे धर्म परिवर्तन में सक्रियता से हिस्सा लेते थे। उन्होंने और उनके उत्तराधिकारियों ने गैर-मुसलमानों के प्रति सहिष्णुता का दृष्टिकोण अपनाया। शेख निज़ामुद्दीन औलिया ने एक अवसर पर गौर किया कि कई हिंदू इस्लाम को सच्चा धर्म मानते थे पर उसे ग्रहण नहीं करते थे। उनका यह भी मानना था कि प्रत्येक धर्म की अपनी पूजा-पद्धति, विधि और विश्वास है। आरंभिक सूफ़ियों के संबंध में इस बात के काफी कम प्रमाण मिलते हैं कि उन्होंने दक्खन में धर्म-युद्ध छेड़ रखा था।

हाँ, यह सही है कि गैर-मुसलमान धर्म की छोटी जातियों के लोग सूफ़ियों और उनकी *दरगाहों* की ओर आकृष्ट हुए और उनके भक्तों में शामिल हो गये। धीरे-धीरे वे इस्लाम के प्रभाव में आये और उन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। इस्लाम धर्म ग्रहण करने वालों के उत्तराधिकारियों ने बाद में यह दावा किया कि उनके पूर्वजों को किसी खास मध्यकालीन सूफ़ी ने इस्लाम धर्म में परिवर्तित किया था। इसका एक ही मकसद था – वे नये धर्मानुयायी सूफ़ियों, उनकी *दरगाह* से तथा इस्लाम से अपने लंबे संबंध को सिद्ध करना चाहते थे।

15.7.4 सूफ़ी *खानकाहों* में भौतिक जीवन

हमने पहले पढ़ा है कि कई *खानक़ाह* समृद्ध थे, उन्हें राजकीय सहायता मिलती थी, राज्यों के साथ सूफ़ियों के संबंध थे और कई सूफ़ी भूमिपति भी बन गये। आदर्श तौर पर सूफ़ी, जैसे कि आरंभिक चिश्ती, *खानक़ाहों* रहते थे और ये दरबार और सामाजिक ऊँच-नीच के वातावरण से दूर समता के माहौल में रहा करते थे। आपने गौर किया होगा कि समग्र रूप में चिश्तियों ने स्थापित सामाजिक और राजनीतिक संरचना को स्वीकार किया। उनका यह मानना था कि इसका कोई विकल्प नहीं है। इसके बावजूद उनके *खानक़ाहों* में इस सामाजिक संरचना और असमानता का प्रभाव नहीं पड़ा। *खानक़ाह* में रहने वाले अनुयायी और तीर्थयात्री एक समतावादी परिवेश का अनुभव करते थे। ऐसे *खानक़ाह* अपने खर्चे के लिए सरकारी संरक्षण पर नहीं बल्कि *फुतूह* (निःस्वार्थ दान) पर आश्रित थे।

चिश्ती *खानक़ाहों* का दरवाजा समाज के प्रत्येक सदस्य और समुदाय के लिए खुला था। *कलंदर* और *जोगी* अक्सर *खानक़ाहों* में टिका करते थे। *खानक़ाहों* ने अनेक तरीके से आर्थिक जीवन को भी प्रभावित किया। कुछ *खानक़ाह* बंजर भूमि पर खेती करते थे, कुछ धार्मिक और गैर-धार्मिक इमारतें बनवाते थे, बाग-बगीचे लगवाते थे। *खानक़ाहों* ने शहरीकरण की प्रक्रिया में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। वार्षिक *उर्स* (आध्यात्मिक गुरु की मृत्यु के दिन आयोजित समारोह) के आयोजन से व्यापार, वाणिज्य और स्थानीय हस्तशिल्प के उत्पादन को बल मिला।

15.8 भारतीय सूफ़ी मत पर समकालीन इस्लामी देशों के सूफ़ी विचारों का प्रभाव

हालांकि भारत में पनप रहे सूफ़ी आंदोलन के विकास और प्रसार में मूलतः भारतीय परिवेश का प्रभाव काम कर रहा था, पर इसके साथ-साथ इस्लामी दुनिया में सूफ़ी मत में हो रहे परिवर्तन से भी यह अछूता नहीं था। विभिन्न *सिलसिलों* का प्रतिनिधित्व करने वाले सूफ़ियों की कई पीढ़ियों को अल-गज़ाली जैसे सूफ़ी सिद्धांतों की मान्यताएँ प्रभावित करती रहीं। फरीदुद्दीन अत्तार (मृ. 1220) और जलालुद्दीन रूमी (मृ. 1273) जैसे ईरानी सूफ़ियों के विचारों और काव्य प्रतीकों से सल्तनत काल के भारतीय सूफ़ी प्रभावित थे। यह भी माना जाता है कि इस काल के सूफ़ियों पर स्पेन में जन्मे सूफ़ी इब्न अरबी (मृ. 1240) का भी प्रभाव था। उन्होंने *वहदत अल-वुजूद* (लौकिक और अलौकिक संसार की एकता) का सिद्धांत सामने रखा, जिसका *उलमा* ने विरोध किया। पर हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि चिश्तियों समेत अधिकांश सूफ़ी *वहदत अल-वुजूद* जैसे सिद्धांत को खास महत्व नहीं देते थे। उनके अनुसार सूफ़ी मत किसी सिद्धांत का नाम नहीं था बल्कि सूफ़ी *मार्ग* को सफलतापूर्वक पार करने का एक व्यावहारिक प्रयास था।

अलाउद्दौला सिमनानी (1261-1361) एक ईरानी थे, उन्होंने इब्न अरबी के सिद्धांत का विरोध किया था। उन्होंने भारतीय सूफ़ियों को प्रभावित किया। गेसूदराज़ सिमनानी के कट्टरपंथी विचारों से प्रभावित थे और उन्होंने इब्न अरबी और जलालुद्दीन रूमी के विचारों का खंडन किया।

15.9 सूफ़ी और भक्ति आंदोलन और सांस्कृतिक समन्वय

सूफ़ी और भक्ति आंदोलनों के बीच कुछ समानताएँ ऐसी हैं, जिनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके बीच विचारों का आदान-प्रदान हुआ था। इन समानताओं में उल्लेखनीय है, एकेश्वरवाद पर जोर, आध्यात्मिक *गुरु* (*पीर* या *गुरु*) की भूमिका, ईश्वरीय रहस्यवादी मिलन। इसके अलावा भक्ति संतों और कई सूफ़ियों ने क्रमशः हिंदू और इस्लाम धर्म के कट्टर और रूढ़िवादी तत्वों पर प्रहार किया। कश्मीर में स्थापित ऋषि *सिलसिला* सूफ़ी मत पर भक्ति आंदोलन के प्रभाव का प्रमाणिक उदाहरण

है। यहाँ, इस *सिलसिले* के संस्थापक शेख नूरूद्दीन वली पर 14वीं शताब्दी की महिला भक्त लाल डेड का गहरा असर था।

सल्तनत काल के दौरान सूफियों और नाथपंथियों के बीच संबंध भी एक प्रमाणिक तथ्य है। 13वीं-14वीं शताब्दी के दौरान उत्तर भारत में समाज के निचले तबके के बीच नाथपंथियों का आंदोलन बेहद लोकप्रिय हुआ। नाथपंथी योगी अक्सर चिश्ती *शेखों* की *खानकाहों* में पहुँच जाते थे और उनसे रहस्यवाद के स्वरूप पर बहस करते थे। सूफ़ियों के भारत आने के बहुत पहले संस्कृत में योग पर लिखे ग्रंथ *अमृतकुंड* का अनुवाद फ़ारसी में हो चुका था। इसका प्रभाव भी सूफ़ियों पर पड़ा और उन्होंने कई प्रकार की योग पद्धतियाँ अपना लीं। आरंभिक चिश्तियों ने नाथपंथी *योगियों* के कुछ नैतिक मूल्यों और उनकी सामूहिक जीवन पद्धति को सराहा। चिश्तियों के समान नाथपंथी *योगियों* ने भी बिना किसी भेदभाव के समाज के सभी वर्गों के लिए दरवाजे खोल दिए। इन दोनों लोकप्रिय आंदोलन के कारण मुसलमानों और गैर-मुसलमानों के बीच आपसी समझ कायम होने में सहूलियत हुई।

चिश्ती *सिलसिला* गैर-मुस्लिम परिवेश में भी लोकप्रिय हुआ, उसने अपने आपको उस परिवेश के अनुकूल ढाल लिया। इससे भारतीय परिवेश में एक समन्वयवादी धारा प्रवाहित होने लगी और सांस्कृतिक मेलजोल को बढ़ावा मिला। कई आरंभिक चिश्ती हिंदवी बोलते थे और इसमें अपने पद लिखा करते थे। कई *खानक़ाहों* ने क्षेत्रीय भाषा में रहस्यवादी कविताओं को प्रोत्साहित किया। 14वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मुल्ला दाउद द्वारा लिखी गई हिंदी की पुस्तक *चंदायन* में सूफ़ीवाद के साथ हिंदू मिथक और दर्शन भी घुला-मिला हुआ है। कालांतर में सूफ़ियों द्वारा रचित लोक साहित्य में इस्लाम के हल्के-फुल्के विचार, सूफ़ी शब्दावली, लोकप्रिय प्रतीकों और मुहावरों का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार खासकर ग्रामीण इलाकों में लोकप्रिय धर्म का विकास हुआ। चिश्ती *सिलसिले* की प्रमुख प्रथा *समा* ने समन्वयवादी संगीत परंपरा की नींव रखी, जिससे *कव्वाली* जैसी विधा का विकास हुआ। अमीर खुसरो से *कव्वाली* की शुरुआत मानी जाती है।

बोध प्रश्न-3

1) भारत में चिश्ती सम्प्रदाय की लोकप्रियता के क्या कारण थे?

.....

.....

.....

2) राजकीय मामलों में सूफियों ने किस प्रकार की भूमिका निभाई?

.....

.....

.....

3) *वहदत-अल वुजूद* से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

4) सूफ़ी मत और भक्ति आंदोलन के बीच के आदान-प्रदान पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

15.10 सारांश

दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पूर्व ही सूफियों का भारत में आगमन हो गया था। इस्लामी दुनिया के सूफ़ी मत की आधारभूत विशेषताएँ भारत के सूफ़ी मत में कायम रहीं। इस्लामी दुनिया में यह

10वीं-12वीं शताब्दी के दौरान एक संगठित आंदोलन के रूप में उभरा। 12वीं-13वीं शताब्दी में कई सूफ़ी मत या *सिलसिले* कायम हुए। इस्लामी दुनिया के समान दिल्ली सल्तनत के काल में भारत में अनेक सूफ़ी मत लोकप्रिय हुए। इनमें सुहरावर्दी और चिश्ती *सिलसिले* सर्वप्रमुख हैं। भारत में लोकप्रियता में चिश्ती *सिलसिले* का नाम सबसे ऊपर आता है।

विवेच्य काल के सामाजिक जीवन में सूफ़ियों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। आमतौर पर सूफ़ी राजकीय मामलों से नहीं जुड़े, पर कई मामलों में हम देखते हैं कि सूफ़ी संतों ने राजकीय गतिविधि में हस्तक्षेप किया और राजकीय संरक्षण और दान भी कबूल किया। इस पूरे काल में सूफ़ी और *उलमा* के बीच अविश्वास का भाव बना रहा। *उलमा* ने सूफ़ियों की कई प्रथाओं को नामंजूर कर दिया।

खानक़ाह सूफियों और उनके शिष्यों की गतिविधियों का केंद्र थे। भारत का सूफ़ी आंदोलन समकालीन इस्लामी दुनिया में सूफ़ी विचारों में हो रहे बदलाव से प्रभावित होता रहा। भारत में सूफ़ी और भक्ति आंदोलन के बीच लगातार आदान-प्रदान होता रहा। इस आदान-प्रदान का सल्तनत काल के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा। इस आदान-प्रदान से कला, संगीत और साहित्य के क्षेत्र में सांस्कृतिक मेल-मिलाप को भी बल मिला।

15.11 शब्दावली

बेशरा	*शरा* =*शरियत* अर्थात् जो *शरियत* (इस्लामी कानून) का कड़ाई से पालन न करे
दरगाह	सूफ़ी मज़ार या कब्र
फुतूह	सम्मानपूर्वक आमदनी
खानकाह	सूफ़ी संतों के रहने का स्थान
मलफूज़ात	सूफ़ी साहित्य
कलंदर	मुसलमान भिक्षुक, जो सब कुछ त्याग कर घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करते थे
रिबात	सीमांत पड़ाव
समा	सूफ़ी महफिल में सामूहिक संगीत गान

15.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 15.2
2) देखें भाग 15.2
3) देखें उप-भाग 15.3.3
4) देखें उप-भाग 15.3.1 और 15.3.2

बोध प्रश्न-2

1) देखें उप-भाग 15.5.1
2) देखें भाग 15.5
3) देखें उप-भाग 15.5.2
4) देखें उप-भाग 15.5.2

बोध प्रश्न-3

1) देखें भाग 15.6

2) देखें उप-भाग 15.7.1

3) देखें भाग 15.8

4) देखें भाग 15.9

15.13 संदर्भ ग्रंथ

अकील, रज़ीउद्दीन, (2017) *लवर्स ऑफ गॉडः सूफिज्म एंड द पालिटिक्स ऑफ इस्लाम इन मिडिवल इंडिया* (नई दिल्लीः मनोहर).

निज़ामी, खालिक अहमद, (2002 {1961}) *रिलीजन एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया ड्यूरिंग द थर्टीन्थ सेंचूरी* (नई दिल्लीः ऑक्फोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

निज़ामी, खालिक अहमद, (2009 {1991} *द लाइफ एंड टाइम्स ऑफ शेख निज़ामुद्दीन औलिया* (दिल्लीः इदारह-ए अदबियात-ए दिल्ली).

रिज़वी, अथर अब्बास, (1978) *ए हिस्ट्री ऑफ सूफ़ीज़्म इन इंडिया,* भाग I (नई दिल्लीः मुंशीराम मनोहर लाल).

रिज़वी, अथर अब्बास, (1983) *ए हिस्ट्री ऑफ सूफ़ीज़्म इन इंडिया,* भाग II (नई दिल्लीः मुंशीराम मनोहर लाल).

सिद्दीकी, मोहम्मद सुलेमान, (2001) (पुनः मुद्रित) *द जुनैदी सूफ़ीज़ ऑफ द दक्कन* (नई दिल्लीः प्राइम्स बुक्स).

15.14 शैक्षणिक वीडियो

सूफिज्म इन इंडियाः राइज़ एंड ग्रोथ | सी.ई.सी.-यू.जी.सी
https://www.youtube.com/watch?v=iTmwmvnsWBA

द इंडियन स्टोरीः सूफ़ी कल्चर ऑफ इंडिया | डी. डी. न्यूज
https://www.youtube.com/watch?v=y8N7iDYhgVw

ए लेक्चर विद सूफ़ी स्कॉलर एंड टीचर पीर ज़िया इनायत-खान
https://www.youtube.com/watch?v=MSpsGls13Jo

इकाई 16 वेदांतिक और श्रमणिक परम्पराएँ*

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 श्रमणिक परंपरा

16.2.1 बौद्ध परंपरा

16.2.2 जैन परंपरा

16.3 वेदांतिक परंपरा

16.3.1 *विशिष्टअद्वैतवाद* या श्रीवैष्णव सम्प्रदाय

16.3.2 निम्बार्क

16.3.3 माधवाचार्य

16.3.4 वल्लभाचार्य

16.4 श्रमणिक और वेदांतिक परम्पराओं के मध्य संघर्ष

16.5 सारांश

16.6 शब्दावली

16.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.8 संदर्भ ग्रंथ

16.9 शैक्षणिक वीडियो

16.0 उद्देश्य

यह इकाई वेदांतिक और श्रमणिक परम्पराओं पर केंद्रित है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपः

- वेदांतिक और श्रमणिक परम्पराओं को समझ पाएँगे,
- *पूर्व* तथा *उत्तर मीमांसा* की व्याख्या कर पाएँगे,
- *आचार्य* परम्परा, विशेष रूप से शंकर, रामानुज, वल्लभाचार्य और चैतन्य को जान पाएँगे,
- हमारे अध्ययन काल के दौरान बौद्ध और जैन परम्पराओं के विकास का परीक्षण कर पाएँगे, और
- श्रमणिक और वेदांतिक परम्पराओं के बीच मतभेद के कारणों का मूल्यांकन कर पाएँगें।

16.1 प्रस्तावना

इस इकाई का उद्देश्य हमारे अध्ययन काल के दौरान प्रचलित विचारों के इतिहास पर प्रकाश डालना है। इस काल की विशेषता श्रमणिक परम्पराओं का पतन और ब्राह्मणवादी विचारों का पुनरुद्धार है। यह वह काल था, जब पौराणिक धर्म प्रमुख 'वैचारिक शक्ति' के रूप में और 'भक्ति' तथा ब्राह्मण परम्परा के मंदिर प्रमुख 'परिवर्तन के कारक' बनकर उदित हुए (चम्पकलक्ष्मी 2011: 346)। आप यह भी देखेंगे कि धीरे-धीरे बौद्ध और जैन धर्मों ने दक्षिण भारत में राजकीय संरक्षण खो दिया। इसके अतिरिक्त, यही वह काल है जब इस्लाम ने भारतीय समाज और संस्कृति पर अपनी स्थायी छाप छोड़ी। हम पहले ही **इकाई 14** और **15** में भक्ति और सूफ़ी आंदोलनों का उल्लेख कर चुके हैं। यह इकाई समकालिक श्रमणिक, वेदांतिक और अन्य 'शास्त्रीय रुढ़िवादिता के विरुद्ध' (hetero-dox) परंपराओं पर केंद्रित है।

* प्रो. आभा सिंह, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

हमारे पाठ्यक्रम **बीएचआईसी-105** की **इकाई 14** तथा **15** में हमने प्रारम्भिक भक्ति परम्पराओं तथा प्रायद्वीपीय भारत में विकसित होती वेदांतिक परम्परा के प्रारम्भिक चरण पर संक्षिप्त चर्चा की थी। यह इकाई दक्षिण भारत में जैन धर्म के क्रमिक पतन की प्रक्रिया और हमारे अध्ययन काल के दौरान भारत से बौद्ध धर्म के धीरे-धीरे होते अवसान पर भी दृष्टि डालेगी। यह वह काल था जब तंत्रवाद, बौद्ध धर्म के साथ-साथ ब्राह्मण मतों के ऊपर भी हावी था। आप देख पाएँगे कि बौद्ध धर्म क्रमिक ढंग से ब्राह्मणीय सम्प्रदायों में आत्मसात हो गया (यहाँ तक कि बुद्ध को भगवान विष्णु का अवतार घोषित कर दिया गया) और अंशतः बंगाल में अपने बदले हुए स्वरूप में, विशिष्ट पंथों के रूप में, बचा रहा। लेकिन, इसका समकक्ष जैन धर्म अपनी पहचान बनाए रखने में सफल रहा और दक्खन व दक्षिण भारत में उत्तर चालुक्यों तथा होयसलों के संरक्षण में अपना अस्तित्व बचाए रख सका। किंतु जैन धर्म को भी दक्षिण भारत में वैष्णव तथा शैव पंथों के प्रभुत्व से काफ़ी नुक़सान उठाना पड़ा, तथापि गुजरात और राजस्थान में यह अस्तित्व में बना रहा।

16.2 श्रमणिक परम्पराएँ

श्रमणिक परम्पराओं के अंतर्गत जैन तथा बौद्ध धर्म आते हैं। आगामी उप-भागों में हम भारतीय उपमहाद्वीप में श्रमणिक परम्पराओं के क्रमिक पतन की चर्चा करेंगे।

16.2.1 बौद्ध परंपरा

हमारे अध्ययन काल के दौरान तंत्रवाद के गहरे प्रभाव ने बौद्ध धर्म की संरचना में मूलगामी परिवर्तनों को जन्म दिया। 'परम सत्य' की अनुभूति के लिए अब अमूर्त दर्शन के बजाय 'साधना' – अभ्यास पद्धति – पर बल दिया जाने लगा। *बुद्ध चित्त* ('करुणा' और सबकी मुक्ति पर 'विश्वास') महायान बौद्ध धर्म की लोकप्रियता का कारण था। धीरे-धीरे *मंत्र* और कर्मकांड के तत्व महायान बौद्ध धर्म का अभिन्न हिस्सा बनते गए। इस तरह से महायान धर्म *मंत्रयान* या *मन्त्र-नय* और *पारमिता-यान* या *पारमिता-नय* में विभाजित हो गया। *मंत्र-यान* को तंत्रवादी बौद्ध धर्म का 'प्रारंभिक' चरण मान सकते हैं, जब इसमें यौगिक अभ्यासों को शामिल किया गया तो 'यह पूर्ण रूपेण तंत्रवादी बौद्ध धर्म बन गया'।

तंत्रवादी बौद्ध धर्म में *प्रज्ञा* (*शून्यता*; परमज्ञान) और *उपया* (करुणा; सार्वभौम करुणा) का समीकरण स्त्री (*प्रज्ञा*) तथा पुरुष (*उपया*) के रूप में तथा 'शरीर व आत्मा' के माध्यम से 'परम-आनंद' या 'परम-सत्य' (*निर्वाण*) की प्राप्ति की जा सकती थी। इस प्रकार *बिधि-चित्त* अब 'मन की अवस्था' नहीं रह गया था, जिसे 'संकल्प' के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता था।

इसी से बाद में वज्रयान की शाखा का जन्म हुआ जो तंत्रवादी बौद्ध धर्म था। दसवीं शताब्दी तक वज्रयान के भीतर ही एक अन्य मत कालचक्र-यान का जन्म हुआ। अतः, 'जिस प्रकार बौद्ध धर्म में, सातवीं सदी तक महायान ने हीनयान को विस्थापित कर दिया था, उसी प्रकार 10वीं सदी तक भारत में महायान को वज्रयान द्वारा विस्थापित कर दिया गया, जिसने हीनयान बौद्ध धर्म की मठ-परंपरा और शास्त्रीय रूढ़िवादिता के साथ-साथ महायान बौद्ध धर्म के बौद्धिक पांडित्य प्रदर्शन का भी विरोध किया' (दास 1979: 413)। 11वीं-12वीं शताब्दी में, विशेषकर, बंगाल, दक्षिणी बिहार और कश्मीर में यह सम्प्रदाय प्रभावी बनकर उभरा। कालांतर में इसके प्रभाव का प्रसार नेपाल में भी हुआ। पाल शासकों के काल में रूढ़िवादिता और कर्मकांडवाद के विरुद्ध बंगाल में सहजिया बौद्धों का एक अन्य विद्रोह जन्म ले रहा था, जो मन्त्रों के जाप के भी विरुद्ध था, इनका विश्वास था कि इनका मार्ग 'सबसे स्वाभाविक' (*सहज*) है; इनका बल यौगिक अभ्यास पर था।

इस बहु-प्रचलित विश्वास के विपरीत कि उत्तर-हर्ष काल में बौद्ध धर्म बंगाल और बिहार तक सिमट कर रह गया था अभिलेखीय साक्ष्य यह संकेत करते हैं कि सोलहवीं सदी में भारत से पूर्णतः गायब हो जाने से पूर्व भारत के विभिन्न भागों में इसका अस्तित्व बना रहा था, यद्यपि यह कोई सृजनात्मक शक्ति नहीं रह गया था, तथापि इसका अस्तित्व था।

बौद्ध धर्म को बंगाल के पाल शासकों – महिपाल प्रथम (988-1038), और रामपाल (1077-1120) का उदार संरक्षण प्राप्त हुआ। पाल शासकों की सत्ता का दक्षिण बिहार में विस्तार होने पर प्रसिद्ध नालंदा मठ उनके संरक्षणत्व में आ गया; इसके अतिरिक्त उन्होंने ओदंतपुरी तथा विक्रमशिला (भागलपुर के

निकट) में दो मठों की स्थापना भी की। बंगाल में पाल शासकों के संरक्षण के अधीन सोमपुरी (पहाड़पुर) के मठ, जहाँ प्रख्यात बौद्ध विद्वान अतीस दीपंकर निवास करते थे; तथा जगद्दला का मठ, जो प्रख्यात बौद्ध भिक्षु मोक्षकरगुप्त के लिए जाना जाता था, को फलने-फूलने का अवसर मिला। इन मठों में तिब्बती बौद्ध भिक्षु निरंतर आते-जाते रहते थे, जो संस्कृत बौद्ध ग्रंथों को तिब्बती भाषा में अनुवादित करने के लिए महती भूमिका निभा रहे थे, जिसने तिब्बती बौद्ध साहित्य का केंद्रीय भाग गठित किया है और जो आज उस समय के भारतीय बौद्ध विद्वानों के एकमात्र बचे हुए दस्तावेज हैं। देवीकोट (उत्तरी बंगाल में) और पंडित-विहार (चटगाँव में) अन्य दो प्रमुख बौद्ध मठ तथा बौद्ध शिक्षण के केंद्र थे।

अतीस दीपंकर को नागार्जुन के बाद सर्वाधिक विख्यात भिक्षु विद्वान माना जाता है। वह विक्रमशिला में सर्वोच्च *आचार्य* के पद पर थे लेकिन शीघ्र ही वे तिब्बत की ओर चले गए (1040-42); इस बीच उन्होंने एक वर्ष नेपाल में भी व्यतीत किया। अपनी मृत्युपर्यंत (1053) वहीं रहकर काम किया। विक्रमशिला के अन्य महत्वपूर्ण भिक्षु अभयकरगुप्त थे, जिनका तिब्बती विचारों पर गहरा प्रभाव था और जिन्होंने कई ग्रंथों का तिब्बती अनुवाद करने के अलावा वज्रयान तथा कालचक्र-यान से संबंधित कई कृतियों की रचना की। लेकिन, इन विद्वानों ने महायान ग्रंथों पर भाष्य लिखकर और तिब्बती अनुवाद के माध्यम से महायान साहित्य और बौद्ध तर्कशास्त्र में भी योगदान दिया।

अन्य प्रमुख बौद्ध केंद्र कश्मीर था जो तिब्बत, चीन और मध्य एशिया की ओर बौद्ध भिक्षुओं के प्रवाह का मुख्य केन्द्र बन गया था। 980 में उदयन ने चीन जाकर बौद्ध ग्रंथों को चीनी भाषा में अनुवादित किया। अनुपमपुरा के रत्नगुप्त और रत्नगिरी-*विहार* के अलावा श्रीनगर का जयेन्द्र-*विहार* तथा परिहासपुर का राज-*विहार* वज्र-यान और कालचक्र-यान के प्रमुख शिक्षण केंद्र थे जहाँ कई *वज्रयानाचार्य* और *कालचक्रयानाचार्य* निवास करते थे। अनुपम-*विहार* के ज्ञानश्रीमित्र (1074), बुद्धश्रीज्ञान व सर्वज्ञानश्रीरक्षित '*कश्मीर के महान् पंडितों*' के रूप में ख्यात थे। भव्यराज ने बौद्ध तर्क शास्त्र पर *कश्मीर-न्याय-चूड़ामणि* की रचना की। क्षेमेन्द्र तथा उसके पुत्र सोमेंद्र द्वारा एक अन्य पांडित्यपूर्ण कृति *बोधिसत्व-अवदानकल्पलता* की रचना की गई थी, जिसमें बुद्ध का विष्णु के *अवतार* के रूप में 'यशोगान' किया गया है।

इस क्षेत्र में मठों की मौजूदगी, बौद्ध प्रतिभाओं के अवशेष इस क्षेत्र में बड़ी संख्या में साधारण बौद्ध अनुयायियों की उपस्थिति की ओर इशारा करते हैं। कश्मीर में बौद्ध दर्शन के प्रभाव को कुछ कश्मीरी राजाओं द्वारा दिन-प्रतिदिन के जीवन में अहिंसा पर दिए गए बल से भी समझा जा सकता है। यह भी विश्वास किया जाता है कि नौवीं-दसवीं शताब्दी में शैव सम्प्रदाय के *स्पंद* तथा *प्रत्याभिज्ञ* मतों के पनपने में भी बौद्ध विचारों का प्रभाव रहा होगा।

यह भी प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म को दिए गए संरक्षण का उत्तरी बिहार तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश में बौद्ध केन्द्रों के विकास पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा होगा। ह्वेनसांग (शांग ज़ांग) 8वीं सदी में इस क्षेत्र में बौद्ध केन्द्रों की शोचनीय स्थिति पर दुःख प्रकट करता है, वहीं 1026 का एक अभिलेख सारनाथ में बौद्ध स्मारकों के जीर्णोद्धार का उल्लेख करता है; बोधगया में भी 1000-1033 के बीच कई चीनी बौद्ध भिक्षुओं के आगमन का रिकार्ड मिलता है, जिन्होंने वहाँ कई स्तूपों का निर्माण करवाया था; यहाँ तक कि जीर्ण-शीर्ण पड़ चुका कौशाम्बी (वर्तमान कोसम) भी फलता-फूलता प्रतीत होता है। ग्यारहवीं शताब्दी में जब नालंदा में आग लग गई थी तो कौशाम्बी के भिक्षु बालादित्य द्वारा उसके पुनर्निर्माण में सहायता की गई थी। इसी प्रकार कुशीनगर का एक प्रस्तर अभिलेख 11वीं-12वीं सदी के किसी कलचुरि नरेश का उल्लेख करता है, जो बौद्ध था। जेतवन (सहेत-महेत, प्राचीन काल का श्रावस्ती) से प्राप्त 1118 का एक अन्य अभिलेख बताता है कि राष्ट्रकूट राजा के सलाहकार विद्याधर द्वारा वहाँ एक मठ की स्थापना की गई। इसके अतिरिक्त, सारनाथ में गहडवाल राजा की बौद्ध पत्नी, कुमारदेवी द्वारा धर्मचक्र-जिनविहार के निर्माण का भी उल्लेख है। गोविंदाचार्य के शासनकाल के सहेत-महेत से ही प्राप्त एक अन्य अभिलेख में उत्कल तथा चोड देश के निवासियों द्वारा जेतवन मठ में निवास करने वाले बौद्ध भिक्षुओं के लिए छः ग्रामों के दान का भी उल्लेख है। इन सबसे ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में पुराने बौद्ध केन्द्रों के पुनरुत्थान का संकेत मिलता है। मालवा क्षेत्र में हम किसी दान/धारी-श्रीज्ञान (धार का निवासी) का उल्लेख पाते हैं, जो बोधिसत्व *आचार्य* के रूप में ख्यात था और जिसे परमार राजा का संरक्षण प्राप्त था। त्रिपुरी के चेदि-राजा विजयसिंह के सामंत मलय-सिम्ह का 1193 का एक अभिलेख मिलता है, जिसमें बुद्ध की प्रतिमा के

साथ एक बड़े तालाब के निर्माण का ज़िक्र है। इसके अतिरिक्त, जबलपुर ज़िले के गोपालपुर से खुदाई में प्राप्त अवलोकितेश्वर तथा तारा की प्रतिमाएँ भी इस क्षेत्र में, 11-12वीं सदी में, बौद्ध धर्म की मौजूदगी की गवाही देती हैं।

लेकिन, दक्षिण भारत में बौद्ध धर्म का स्थायी पतन दिखाई देता है, प्रथम जैन धर्म की मज़बूत लोकप्रियता के कारण, और बाद में, इस क्षेत्र में वैष्णव तथा शैव सप्रदायों के वर्चस्व के परिणामस्वरूप, यद्यपि लगभग 1000 सी ई तक यह वहाँ अस्तित्व में बना रहा। आंध्र क्षेत्र में 13वीं शताब्दी के मध्य तक अमरावती का स्तूप भली-भाँति संरक्षित अवस्था में था, जहाँ प्रतिदिन दीप-प्रज्ज्वलित करने के अनुष्ठान को सम्पन्न किया जाता रहा। कर्नाटक के क्षेत्र में यह काल ब्राह्मण और बौद्ध सम्प्रदायों के बीच आश्चर्यजनक स्तर का समन्वय प्रदर्शित करता है या यों कहें ब्राह्मण सम्प्रदायों में बौद्ध धर्म के आत्मसातीकरण की प्रक्रिया देखने को मिलती है। बेलगाम (शिमोगा में) तथा लाखुण्डी (धारवाड़ में) के अभिलेखों में ब्राह्मणवादी और जैन देवी-देवताओं के साथ बुद्ध और तारा की उपासना होते पाते हैं। इसी प्रकार, देवानंद उर्फ ध्रुवानंद का एक समर्पित शैव होने के साथ-साथ समर्पित बौद्ध होने का उल्लेख मिलता है। यहाँ बुद्ध की विष्णु के अवतार के रूप में उपासना का आत्मसातीकरण बौद्ध धर्म का ब्राह्मणवादी परम्पराओं के भाग के रूप में शेष रह जाने, न कि स्वयं में एक विशिष्ट धर्म के रूप में, के चक्र को पूरा करता है। ओडिशा से भी ग्यारहवीं-बारहवीं सदी की कई बौद्ध प्रतिमाओं की प्राप्ति इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म की उपस्थिति को दर्ज करती है।

बौद्ध धर्म बारहवीं सदी के बाद भी छोटे से राज्य पट्टिकेरा (कोमिला; बंगाल), सपादलक्ष (शिवालिक पहाड़ियों), कमा (कुमाऊँ जहाँ के राजा पुरुषोत्तम सिंह द्वारा बोध गया में किसी संरचना की स्थापना के विषय में हमें पता चलता है) में अस्तित्व में बना रहा। बोध गया के दान अभिलेख भी पन्द्रहवीं शताब्दी में इसकी उपस्थिति का साक्ष्य देते हैं, इस काल में बौद्ध पांडुलिपियों की नक़ल तैयार करने के उल्लेख भी यंत्र-तंत्र मिलते हैं। जब सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अबुल फ़ज़ल कश्मीर गया था तो उसने वहाँ कुछ वृद्ध साधारण बौद्ध अनुयायियों को देखा था। हमें सोलहवीं शताब्दी में बंगाल और दक्षिण भारत में बौद्ध समुदाय की मौजूदगी के संदर्भ भी मिलते हैं। जब सोलहवीं शताब्दी में तिब्बती बौद्ध यात्री तथागतनाथ भारत आया तो उसने बंगाल, ओडिशा, त्रिलिंग (त्रिकलिंग), विद्यानगर (विजयनगर), कर्नाटक और दक्षिण भारत में बौद्ध धर्म की उपस्थिति का उल्लेख किया है।

तथापि, साक्ष्यों से यह स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म कोई जीवंत शक्ति नहीं रह गया था। विष्णु के *अवतार* के साथ आत्मसात किए जाने और ब्राह्मणवादी तंत्रवाद और वज्र-यान व कालचक्र-यान में घनिष्ठ मेलजोल ने व्यवहारिक रूप से आत्मसातीकरण की प्रक्रिया को पूरा किया तथा बौद्ध धर्म की जन्मभूमि में उसकी एक पृथक् धर्म परंपरा के रूप में अस्तित्व के अंत पर मुहर लगा दी। इस तरह, 'न केवल यह शाक्त व अन्य तांत्रिक ब्राह्मणवादी परम्पराओं में घुल-मिल गया बल्कि बंगाल में नाथ, सहजिया, बाउल, इत्यादि मध्यकालीन परम्पराओं के रूप में भी अस्तित्व रहा' (दास 1979: 425-426)। अंततः, बौद्ध धर्म को अंतिम शरण नेपाल में मिली, यद्यपि, नेपाल में बौद्ध पशुपति (शिव) के भी उपासक थे।

16.2.2 जैन परंपरा

जैन धर्म को गुजरात के चालुक्य शासकों के अंतर्गत उदार संरक्षण प्राप्त हुआ। चालुक्य वंश के संस्थापक मूलराज के समय से ही, जिन्होंने अपनी राजधानी अन्हिलवाड़ा में मूलबस्तिका जैन मंदिर का निर्माण करवाया था, जैन धर्म गुजरात में पनपता रहा। चालुक्यों के दरबार में सुशोभित जैन विद्वान सहसकीर्ति की ख्याति एक ऐसे गुरु के रूप में थी, 'जिसके पापरहित चरण-कमलों की पूजा शक्तिशाली राजा जैसे गांगेय {चेदि का कलचुरि नरेश}, भोजदेव {मालवा का परमार राजा} तथा अन्य भी करते थे' (जैन 1979: 428)। भीम प्रथम के मंत्री विमल ने आबू में आदिनाथ की प्रतिमा का निर्माण करवाया था। सिद्धराज तथा कुमारपाल के संरक्षण में जैन धर्म और भी फला-फूला। इस बात का उल्लेख मिलता है कि कुमारपाल ने प्रसिद्ध जैन विद्वान हेमचंद्र के प्रभाव में आकर जैन धर्म अपनाया था। 1230 में तेजपाल ने आबू में नेमिनाथ का मंदिर निर्मित करवाया, जिसकी भव्यता उस समय की समस्त समकालीन संरचनाओं में उत्कृष्टतम है। अपनी विशालता के कारण इसे देवल-वाडा (देलवाड़ा) के रूप में जाना जाता था। शत्रुंजय और गिरनार जैन गतिविधियों के अन्य केंद्रों के रूप में उभरे। खंभात में चिंतामणि पारसनाथ मंदिर का निर्माण 1108 में किया गया तथा बाद

में 1295 में इसकी मरम्मत की गई। यहाँ मालवा, सपादलक्ष और चित्रकूट से जैन अनुयायी तीर्थ पर आते थे।

दक्षिण भारत में पश्चिमी चालुक्यों और होयसल, दोनों ही जैन धर्म के महान् संरक्षक थे। पश्चिमी चालुक्य वंश के संस्थापक तैलप (973-997) ने कन्नड़ कवि रन्न को संरक्षण प्रदान किया था। सत्याश्रय को जैन विद्वान विमल चन्द्र पण्डितदेव द्वारा आध्यात्मिक मार्ग निर्देशन प्राप्त करने का भी उल्लेख मिलता है। पश्चिमी चालुक्यों ने *जैन बसदि* को उदार अनुदान प्रदान किए। हेमचंद्र सूरी (मृ. 1172) ने कुमारपाल को जैन धर्म में दीक्षित किया। यही वह काल है जब वस्तुपाल और तेजपाल ने माउंट आबू में जैन मंदिर की स्थापना (1205) की थी।

इसी प्रकार, जैन भिक्षु वर्धमान देव, विनयादित्य के शासनकाल में, होयसल प्रशासन में महत्वपूर्ण पद पर पदारूढ़ थे। जैन विद्वान होयसल शासकों के आध्यात्मिक गुरु थे तथा उन्होंने जैन भिक्षुओं तथा मंदिरों को उदारता से अनुदान प्रदान किए। विष्णुवर्धन वह होयसल शासक था, जिसने रामानुजाचार्य के प्रभाव में आकर वैष्णव धर्म के प्रति अपनी आस्था बदली। तथापि, उसने जैन मंदिरों और भिक्षुओं को संरक्षण जारी रखा, जो बेलूर (1129) और द्वारसमुद्र (1133) के अभिलेखों से प्रमाणित होता है। विष्णुवर्धन की रानी भी एक दृढ़ आस्था वाली जैन अनुयायी बनी रहीं। उनके आध्यात्मिक गुरु प्रभाचंद्र सिद्धांतदेव थे। विष्णुवर्धन के कई मंत्री और सेनानायक भी जैन अनुयायी थे। उनके मंत्री गणराज ने न केवल जैन मंदिर को दान दिए बल्कि अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद श्रावणबेलगोला में स्मारक लेख के माध्यम से श्रद्धांजलि भी दी। होयसल शासक वीर बल्लाल द्वितीय तथा नरसिंह तृतीय समर्पित जैन थे तथा उन्होंने जैन धर्म को संरक्षण प्रदान किया। होयसल शासकों के संरक्षण में जैन धर्म दक्षिण में फलता-फूलता रहा।

होयसल शासकों के अतिरिक्त जैन धर्म को समान रूप से कर्नाटक के सामंती स्वायत्त सरदारों (संतारों) का संरक्षण भी मिला, जिन्होंने कई मंदिरों का निर्माण किया और भुजबल और वीर संतारा द्वारा इन मंदिरों को कई अनुदान भी दिए गए। बहरहाल, 13वीं सदी में जैन धर्म को कम होते संरक्षण का शिकार होना पड़ा क्योंकि बाद के समय के संतारा शासकों ने शैव धर्म को अपना लिया था। उत्तरी कुर्ग में कंगलावास तथा अरकालगुड ताल्लुक के स्वायत्त सरदार, जो 11वीं शताब्दी में प्रभावशाली होकर उभरे थे, भी जैन धर्म के अनुयायी थे तथा उन्होंने जैन मंदिरों को उदारतापूर्वक अनुदान प्रदान किए। हमें अनेक ऐसे अभिलेख मिलते हैं जो शासकों, स्थानीय स्वायत्त सरदारों, कुलीनों तथा व्यापारियों द्वारा दक्षिण भारत में, 13वीं शताब्दी के दौरान, जैन धर्म को दिए गए संरक्षण की पुष्टि करते हैं।

जैन गतिविधियों तथा शिक्षा का प्रमुख केंद्र श्रावणबेलगोला था। 1398 का सिद्धारबस्ती स्तंभ अभिलेख अरहदबली और उनके शिष्यों पुष्पदंत और भूतवली का उल्लेख प्रतिष्ठित जैन विद्वानों के रूप में करता है। ऐसा उल्लेख मिलता है कि उनके द्वारा मूल-संघ कुंडकुंडान्वय का 4 शाखाओं में विभाजन किया गया – *सेन संघ, नंदी संघ, देव संघ* और *सिंह संघ*। हमारे पास दसवीं से तेरहवीं सदी के बीच भिक्षुओं को *संघ, गण, गच्छ, बली* और *शाखाओं* की उपस्थिति के संदर्भ मिलते हैं जो दक्षिण भारत में पनप रहे थे। *पट्टावलियों* में वर्णन है कि जैन *आचार्य* धर्मघोष सूरी, जिन्हें महावीर से प्रारंभ *आचार्य* परंपरा में 35वाँ *आचार्य* माना जाता था, ने प्रधान मंत्री विमल को 1011 सी ई में जैन धर्म में धर्मांतरित किया था। दक्षिण भारत में 11वीं शताब्दी के दौरान कई जैन *आचार्यों* का उदय हुआ – शांति सूरी (मृ. 1039; जिन्होंने *वादी-वेताल* की रचना की), अभयदेव सूरी (मृ. 1078; जिन्होंने 9 *अंगों* पर भाष्य लिखे), मुनि चंद्र (मृ. 1121; महान् तर्क शास्त्री और *अनेकांत-जय-पताका-पंजिका* और *उपदेश वृत्ति, पक्षिका सप्तिति* के लेखक); चंद्र प्रभा सूरी (1102 में *पुनमिया-गच्छ* के संस्थापक); अजितदेव सूरी और वादीदेव सूरी जिन्होंने कुमुदचंद्र को जयसिंहदेव के दरबार में उसकी राजधानी अन्हिलपट्टन में पराजित किया था और जिसके परिणामस्वरूप दिगंबरों का राजधानी में प्रवेश प्रतिबंधित कर दिया गया था। श्वेताम्बर शाखा में भी, 1147 में *कुरचापुर-गच्छ* से जिन वल्लभ द्वारा *खरतरा-गच्छ* को पृथक् कर लिया गया। 1156 में *ऑचलक-मत* की स्थापना हुई। इस काल में जैन धर्म में कई शाखाएँ-प्रशाखाएँ बनीं – *सरधा पौर्णमियक-मत* (1163), *आगमियक-मत* (1193), *तप-गच्छ मत* (1266), *पूर्णताल-गच्छ मत* (1157), इत्यादि।

आचार्य देवेंद्र सूरी (मृ. 1270) ने मालवा क्षेत्र में व्यापक भ्रमण किया और *कर्म-ग्रंथ, श्रद्धादिन-कृत्य-*

वृत्ति की रचना की। *आचार्य* धर्मघोष सूरी (मृ. 1300), मंडप, पेथददेव के अनुग्रहप्राप्त व्यापारी-प्रधान मंत्री ने 84 जैन मंदिरों की स्थापना की।

यही वह काल भी है जब बड़ी संख्या में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में कई जैन ग्रंथों की रचना की गई। अभयदेव ने नौ *अंगों* पर भाष्य लिखे तो शांति सूरी और देवेंद्र गिरि (11वीं शताब्दी) ने *उत्तराध्यान* पर भाष्य लिखे। देव सूरी और माणिक्यचंद्र ने *शांतिनाथ-चरित* लिखा; सुराचार्य तथा मालाधारी हेमचंद्र द्वारा *नेमिनाथचरित;* वदीराज, भवदेव और माणिकचंद द्वारा *पार्श्वनाथ-चरित;* विक्रम द्वारा *नेमिदूत;* चालुक्य शासक जयसिंह के संरक्षण में वागभट्ट द्वारा *नेमि-निर्माण-काव्य-चरित;* मालाधारी देवप्रभा द्वारा *मृगावती-चरित* (13वीं सदी में); मालवा के भोजदेव के अधीन श्रीचंद्र द्वारा *पूर्णसार* और रविशेन के *पद्म-चरित* पर और पुष्पदंत के *महापुराण* पर भाष्य (अपभ्रंश में) की रचनाएँ कीं। मालवा के जैन कवि असधारा द्वारा बीस से अधिक ग्रंथ रचने का उल्लेख मिलता है जिसमें से कुछ प्रमुख, *सागर धर्मामृत* और *अनागर धर्मामृत* हैं। अपनी काव्यात्मक उपलब्धियों के कारण वह 'कलि-कालिदास' के नाम से विख्यात हुए। महान् तर्कशास्त्री वादीराज पश्चिमी चालुक्य शासक जयसिंह के दरबार में सुशोभित थे जिन्होंने तर्कशास्त्र पर कई कृतियाँ यथा, *प्रमाण-निर्णय* और ध्यान व आध्यात्मिक अभ्यास पर *अध्यात्मशतक* की रचना की।

बोध प्रश्न-1

1) 10-13वीं शताब्दी में बंगाल में पाल शासकों द्वारा बौद्ध धर्म को दिए गए संरक्षण की प्रकृति पर संक्षेप में लिखिए।

.....

.....

.....

2) 10-13वीं शताब्दी में कश्मीर में बौद्ध धर्म के प्रसार का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

3) पश्चिमी चालुक्यों के अधीन जैन परम्परा के विकास का विवरण दीजिए।

.....

.....

.....

4) होयसल शासकों द्वारा जैन धर्म को प्रदत्त राजकीय संरक्षण की प्रकृति का मूल्यांकन कीजिए।

.....

.....

.....

16.3 वेदांतिक परंपराएँ

वेदांतिक का शाब्दिक अर्थ है, वेदों का अंतिम भाग। *वेदांतिक* को *उत्तर मीमांसा* के रूप में भी जाना जाता है, जो *उपनिषदों* के दर्शन पर आधारित दार्शनिक परंपराओं पर बल देता है, *पूर्व मीमांसा* से भिन्न जिसका अधिक बल अनुष्ठानों पर था।

वेदांतिक दार्शनिक परंपरा के मुख्य प्रतिपादक 8वीं शताब्दी के आदि शंकराचार्य थे, जिन्होंने *अद्वैत* के विचार का प्रतिपादन किया था, जिसकी चर्चा हम पाठ्यक्रम **बीएचआईसी-105** की **इकाई 14** तथा **15** में कर चुके हैं, हमारे अध्ययन काल के दौरान दक्षिण भारत में वेदांतिक दर्शन का विकास वैष्णव आचार्यों के संरक्षणत्व में हुआ। इन वैष्णव *आचार्यों* ने व्यापक रूप से शंकराचार्य के *अद्वैत* दर्शन पर प्रश्न चिन्ह लगाए। शंकर का ब्रह्म 'निराकार' था, जिसमें 'कोई भी भक्तिपूर्ण भावनाओं को जाग्रत करना असम्भव था', अतः उनसे 'प्रार्थना' करना अर्थहीन था (सरकार 1979: 459)। लेकिन पीड़ित और सांत्वना के आकांक्षी, ईश्वरीय मानव दया की अपेक्षा करते हैं। व्यक्ति की इस चाह ने ही दार्शनिकों को वेदों की पुनर्व्याख्या के लिए प्रेरित किया। 'प्रेम' तथा 'भक्ति' पर बल देने

वाली यह पुनर्व्याख्या वैष्णव *आचार्यों* की वेदांतिक दर्शन के प्रति संशोधनवादी दृष्टि में प्रतिबिंबित होती है।

लेकिन, वेदांतिक दर्शन ने वैष्णव से इतर विद्वानों को भी आकर्षित किया। इस तरह कुछ ग़ैर-वैष्णव वेदांतिकविदों ने अपने आराध्य देव की पहचान वेदांतिकी *ब्रह्म* से की। श्रीकांत, जो वेदांतिक सूत्र के शैव भाष्यकार थे, ने शिव तथा वेदांतिकी *ब्रह्म* को 'एकरूप' तथा 'समान' ही समझा।

यहाँ हमारा ध्यान मुख्यतः वैष्णव *आचार्य* परम्परा और उनके द्वारा प्रतिपादित वेदांतिक दर्शन के मत-संप्रदायों की चर्चा पर केंद्रित रहेगा।

16.3.1 *विशिष्टअद्वैतवाद* या श्रीवैष्णव संप्रदाय

श्रीवैष्णव संप्रदाय के संस्थापक नाथमुनि थे। लेकिन, विख्यात यामुनाचार्य *विशिष्टअद्वैत* /श्रीवैष्णव मत के वास्तविक संस्थापक थे, जिन्हें चोल महारानी ने *अलवांदेर* (विजेता) की उपाधि से नवाज़ा था। रामानुजाचार्य के अधीन यह मत अपनी परिपक्वता को पहुँचा (1017-1137)। अपनी *सिद्धित्रय* में यामुनाचार्य 'जीव और परमात्मा के वास्तविक रूप से अस्तित्वमान' होने का तर्क देते हैं और इस प्रकार '*अद्वैत* के सिद्धांत का खण्डन' करते हैं, इसके अतिरिक्त, *गीतार्थ संग्रह* में उन्होंने *कर्म-योग* तथा *ज्ञान-योग* के ऊपर *भक्ति* की श्रेष्ठता पर बल दिया।

रामानुज श्रीरंगम में यामुनाचार्य के उत्तराधिकारी थे। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, रामानुज को यह श्रेय जाता है कि उन्होंने *विशिष्टअद्वैतवाद* के सिद्धांत को पूर्ण रूप से विकसित किया। प्रारंभ में वह स्वयं कांचीपुरम के *अद्वैत* दार्शनिक यादव-प्रकाश के शिष्य थे। लेकिन जल्द ही *अद्वैतवाद* के दर्शन में उनका विश्वास उठ गया। रामानुज तीन 'शाश्वत्' सिद्धांतों की चर्चा करते हैं: *चित* (जीवात्मा), *अचित* (अचैतन्य जगत) और *ईश्वर* (परमात्मा)। रामानुज ने *भक्ति* की तुलना *उपनिषद्* पर आधारित *उपासना* या ध्यान से की है। यद्यपि कृष्ण-राधा और गोप-गोपियों का विचार रामानुज के वैष्णव मत में अनुपस्थित है। शंकर का *ब्रह्म*, जो 'निर्गुण' था, वह रामानुज के आलोचना के केंद्र में है। उनका तर्क है कि 'यदि ज्ञान का अस्तित्व है तो ज्ञान धारण करने वाले का अस्तित्व भी होना चाहिए {इस तरह वे शंकर को नकारते हैं}, जो जान सके और निश्चित ही कोई ऐसी वस्तु भी होनी चाहिए जिसके बारे में जाना जा सके, ज्ञान इन दोनों के बीच का संबंध हैं' (सरकार 1979: 460)। रामानुज का तर्क था कि ज्ञान का तात्पर्य इस 'संबंध' से है। अतः *ब्रह्म* बिना 'गुणों' (विशेषताओं) के अस्तित्वमान नहीं हो सकता। 'यह संसार उस ही की अभिव्यक्ति है, उसके शरीर की... ब्रह्म ... जिसमें सत् और पवित्रता के अनंत गुण निहित हैं। वह वही विष्णु है जो *विष्णु पुराण* में तथा वैष्णव जन की मान्यता में उपस्थित है' (सरकार 1979: 460)। रामानुज के लिए, शंकर के मत के विपरीत, 'आत्मा के उद्धार के लिए ज्ञान पर्याप्त नहीं हैं। इसके साथ-साथ ईश्वर के प्रति *भक्ति* और समर्पण की भी जरूरत होती है जो मनुष्य को उसके अभीष्ट तक पहुँचा सकती है' (सरकार 1979: 461)। इस प्रकार रामानुज का मुख्य योगदान 'वैदिक ब्रह्म' को *भक्ति* के साथ मिश्रित करना है जो सभी वैष्णव आंदोलनों का मुख्य घटक बन गया।

रामानुज ने कई दार्शनिक ग्रंथों की रचना की, उनमें से प्रमुख हैं: *वेदांतसार, वेदांतदीप* और *भागवत् गीता* और *ब्रह्म-सूत्र* पर उनके द्वारा रचित भाष्य।

रामानुज के बाद के काल में उनके अनुयायी वडकलाई (उत्तरीय दर्शन का सम्प्रदाय) और तेनकलाई (दक्षिणी दर्शन का सम्प्रदाय) मतों में बँट गए। यद्यपि दोनों ही मतों का ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण में विश्वास था, किंतु इसे प्राप्त करने के तरीकों को लेकर भिन्नता थी। वडकलाई का यह मानना था कि इसकी प्राप्ति *कर्म* के द्वारा की जा सकती है, वहीं तेनकलाई का यह मानना था कि 'आत्म-प्रयास अनावश्यक' है, उनके लिए 'ईश्वर का प्रेम सर्व-सुलभ है तथा मनुष्य को मोक्ष दिलाने के लिए स्वयं में पर्याप्त है' (सरकार 1979: 439)। तुलनात्मक रूप से तेनकलाई अधिक उदार थे, उनके लिए *ओम नमो नारायण* का मंत्र सभी वर्गों के लिए था, जबकि वडकलाई ने ओम को विशिष्ट रूप से केवल ब्राह्मण वर्गों के लिए आरक्षित रखा था और ग़ैर-ब्राह्मण वर्गों के लिए इसका जाप निषिद्ध था। कांचीपुरम् वडकलाई के प्रमुख केंद्र के रूप में उभरा, विशेषकर, 13वीं शताब्दी के दौरान वरदाचार्य/नडाडुर अम्माल के समय में। वहीं श्रीरंगम तेनकलाई का प्रमुख केंद्र था। वडकलाई *आचार्य* वेदांतदेशिका (1269-1370) को विद्वता में रामानुज के बाद रखा जाता है, जिन्होंने 100 से अधिक कृतियों की रचना की और जिनमें सबसे प्रमुख *वेदांताचार्य* है।

16.3.2 निंबार्क

शंकर के *माया* के दर्शन के विरुद्ध, एक तेलुगु ब्राह्मण निंबार्क का मत-संप्रदाय भी 12वीं सदी में विकसित हुआ। अपना अधिकांश समय उन्होंने उत्तर भारत में, वृंदावन में व्यतीत किया। निंबार्क ने *वेदांत पारिजात सौरभ* की रचना की और *ब्रह्म-सूत्र* पर भाष्य भी लिखा। निम्बार्क ने *द्वैतअद्वैत* (*भेदाभेद; द्वैतवादी-अद्वैतवाद*) का सिद्धांत प्रतिपादित किया। वह रामानुज के इस विचार से दो आधारों पर भिन्नता रखते हैं कि 'परमसत्ता एक है'; उनका 'भक्ति पर उसके मौलिक प्रेम भाव के रूप में बल' और उनके द्वारा कृष्ण तथा राधा के नेतृत्व में गोपियों के महत्व पर बल दिया गया। रामानुज से भिन्न, निंबार्क इस बात पर बल देते हैं कि परमात्मा और जीवात्मा तथा यह चैतन्य संसार एक साथ भेद रखने वाले ('एकस्वरूप') भी हैं और अभेद रखने वाले ('भिन्नस्वरूप') भी। 'इस अर्थ में एकस्वरूप रूप हैं कि जीवात्मा और यह चैतन्य संसार पूर्णतः ईश्वर पर निर्भर है तथा उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है'। इस प्रकार निम्बार्क का दर्शन 'अद्वैत और द्वैत', दोनों ही, को समाहित करता है। लेकिन जो महत्वपूर्ण है, वह यह कि 'निंबार्क का *ब्रह्म विष्णु* से अभिन्न/तद्रूप है; जो ईश्वर होने के साथ-साथ एक व्यक्ति है और जो भक्ति भाव व प्रेम का विषय हो सकते हैं, जिन्हें प्रार्थनाएँ संबोधित की जा सकती हैं और जब आवश्यकता हो तो हम पर दया और करुणा दिखा सकते हैं' (सरकार 1979: 439)।

16.3.3 माधवाचार्य

माधवाचार्य या आनंदतीर्थ (तेरहवीं शताब्दी) *द्वैत* (परमात्मा और जीवात्मा दोनों की यथार्थ सत्ता पर विश्वास) दर्शन के प्रतिपादक थे। उनकी दीक्षा अच्युतपरीक्षाचार्य/पुरुषोत्तमतीर्थ द्वारा की गई थी। वह बद्रिकाश्रम तीर्थ हेतु आए थे, जहाँ उनके द्वारा राम और वेदव्यास की प्रतिमाएँ लेकर आने का पता चलता है। उन्होंने व्यापक रूप से भ्रमण किया और अपने शिष्यों नरहरीतीर्थ को जगन्नाथ क्षेत्र (पुरी) में राम और सीता की प्रतिमाएँ लाने हेतु भेजा। माधव का मुख्य प्रभाव क्षेत्र कर्नाटक क्षेत्र था, जहां उन्होंने माधव संप्रदाय के आठ *मठों* की स्थापना की। माधव ने गोपाल-कृष्ण और राधा के रूप को नकारा। माधव के अनुसार 'जीवात्मा' अपनी 'अज्ञानता' के कारण ईश्वर से 'भिन्न' है इस प्रकार उनका द्वैतवाद पर विश्वास था। वह ईश्वर और आत्मा के संबंध को स्वामी और सेवक के संबंध के समान समझते थे। उन्होंने शंकर के *अद्वैत* सिद्धांत का भी विरोध किया। माधव ने *ब्रह्म-सूत्र* और *उपनिषदों* पर भाष्य लिखे। उनके लिए 'वेदांत का *ब्रह्म* कोई निराकार सत्ता नहीं है बल्कि *हरि* या विष्णु का एक अन्य नाम है। वह आराधना और भक्ति का विषय है' (सरकार 1979: 462)।

16.3.4 वल्लभाचार्य

शंकर के *अद्वैत* दर्शन के विरोध का चक्र वल्लभाचार्य (15-16वीं सदी; 1479-1531) के साथ पूर्ण होता है। उन्होंने *शुद्ध अद्वैतवाद* का प्रतिपादन किया। वह भी वेदांत की सगुणात्मक व्याख्या करते हैं और इस प्रकार शंकर और रामानुज दोनों से भिन्नता रखते हैं। उनका *ब्रह्म कृष्ण* के रूप में मानवीय स्वरूप ग्रहण करता है। उनके लिए, 'यह संसार और सभी जीव यथार्थता लिए हुए हैं। वह कोई भ्रम मात्र या *माया* नहीं हैं। किंतु वह ब्रह्म से भिन्न भी नहीं हैं। सभी अस्तित्वमान सत्ताएँ *ब्रह्म* हैं। उनके बीच निरपेक्ष-अभेद है' (सरकार 1979: 462)। *निर्वाण* केवल 'दैवीय अनुकंपा' (पुष्टि) से हासिल किया जा सकता है, न कि व्यक्तिगत प्रयासों से। उन्होंने *ब्रह्म-सूत्र* पर भाष्य (*अनुभाष्य*) तथा *भागवत* पर *भागवत टीका सुबोधिनी* की रचना की।

बोध प्रश्न-2

1) वेदांतिक दर्शन की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

2) *आचार्य* परम्परा से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

3) संक्षेप में लिखिए :

a) निम्बार्क .....

.....

.....

b) माधवाचार्य .....

.....

.....

16.4 श्रमणिक और वेदांतिक परंपराओं के मध्य संघर्ष

पूर्व मध्यकालीन दक्षिण भारत में श्रमणिक और वेदांतिक शैव परंपराओं के बीच कट्टर प्रतिद्वंद्विता देखने को मिलती है। यह काल अलवारों (वैष्णव) और नयनारों (शैव) के उदय के साथ दक्षिण में ब्राह्मणवादी मतों के उभार का साक्षी रहा है। श्रमणिक धर्मों को 'शास्त्रीय रुढ़िवाद के विरुद्ध' (heterodox) धर्म कहा जाने लगा। तमिल अलवार और नयनार साहित्य ऐसी कथाओं से भरा हुआ है जिनमें इस संघर्ष और ब्राह्मण संप्रदायों की विजय का वर्णन किया गया है। चंपकलक्ष्मी इस संघर्ष को व्यापार के पतन (अंतर्देशीय और समुद्री), जो, जैन और बौद्ध अनुयायियों, इन दोनों धर्मों का प्रमुख व्यवसाय था, के रूप में देखती हैं। अन्य कारक, जिसकी वह इसमें महती भूमिका समझती हैं, वह भूमि और भूमि अनुदानों पर आधारित अर्थव्यवस्था का 'मुख्य' 'आर्थिक संसाधन' के तौर पर उभरना है। इस प्रकार एक नई कृषि व्यवस्था का उदय हुआ जिसने नातेदारी पर आधारित एक समाज को पैदा किया और जो 'धर्मशास्त्रीय' आदर्शों पर टिकी हुई 'राजतंत्रीय' राजव्यवस्था के साथ-साथ पदसोपानक्रम के ढाँचे में ढली हुई थी (चम्पकलक्ष्मी 2011: 438)।

मुख्य ग्रंथ जो इस तरह के संघर्षों का बखान करते हैं, शैव *पेरिय पुराणम्* (12वीं शताब्दी) तथा *स्थल पुराण* (17-18वीं शताब्दी) हैं। मुख्य शैव संत जो इस संघर्ष में शामिल थे, वे तिरुनवुक्कचार (अप्पार), तिरुज्ञानचंपनतार और मणिक्कवचकार; वैष्णव संत तिरुमलैचाई, तिरुमंगाई और तोंडारदिप्पोडि; तथा श्रमणिकों की ओर से नेमी नंदी, दंडी अडिगल और मूर्ति नयनार शामिल थे।

इस तरह के शुरुआती संघर्ष का संबंध धर्मसेन (बाद में अप्पार) के धर्मांतरण से जुड़ा है, जो मूलतः एक जैन थे और पाटलिपुत्र (तिरुप्पदिरिप्पुलियुर, कुडलूर के निकट दक्षिणी अरकॉट) में एक जैन मठ के मठाधीश थे। अप्पार द्वारा अपनी बहन तिलकवती के प्रभाव में आकर शैव धर्म स्वीकार करने का उल्लेख है, जो एक समर्पित शैव थीं। कडवा (महेंद्रवर्मन प्रथम), जो एक जैन थे, यह सुनकर प्रारंभ में उनसे रूष्ट हो गए थे लेकिन बाद में उनके प्रभाव में आकर उन्होंने शैव धर्म अपना लिया। इस धर्मांतरण के अवसर पर उन्होंने गुंडाराविच्चुरमिन तिरुवडगई के शैव मंदिर का निर्माण करवाया। इस प्रकार यह संघर्ष एक जैन प्रभाव वाले क्षेत्र को शैव प्रभाव वाले क्षेत्र में बदलने में परिणत हुआ। लगभग सातवीं शताब्दी के आसपास इस क्षेत्र में शैव उपासकों ने जैनों को प्रतिस्थापित कर दिया।

सातवीं शताब्दी से पूर्व पांडिनाडु, मदुरै एक अन्य प्रमुख जैन केंद्र था। चंपनतार की पांडिनाडु कथा प्रत्यक्ष रूप से मदुरई में जैनों के विलुप्त हो जाने की कथा कहती है, जहाँ जैन पहले एक प्रभावशाली समुदाय थे। पांड्य शासक मारवर्मन अरीकेसरि (640-670) पहले एक जैन अनुयायी थे, चंपनतार के प्रभाव में आकर उन्होंने शैव सम्प्रदाय में दीक्षा ली तथा कालांतर में वह 63 नयनारों में गिने जाने लगे। धीरे-धीरे इस क्षेत्र से जैन बसावटें पूरी तरह से विलुप्त हो गईं। मदुरै की पहाड़ियाँ इस, जैन से शैव तथा वैष्णव शैल-कृत मंदिरों में संक्रमण का बखान करती हैं। मगरल में आदि भट्टारक को समर्पित जैन मंदिर वर्तमान में जीर्ण-शीर्ण अवस्था में हैं, वहाँ भग्न और विखंडित जैन मूर्तियों को देखा जा सकता है। इसी प्रकार, थिरुपरंकुनरम की पहाड़ियों में जैन बसावट के प्रमाण प्रथम सदी बी सी ई से ही मिलते हैं, जहाँ हमें ब्राह्मी अभिलेख भी मिलते हैं। कालांतर में इसे ब्राह्मण संप्रदायों ने अधिग्रहित कर लिया। इसी तरह का एक गुफा मंदिर शिव, विष्णु, स्कंध और दुर्गा को समर्पित 773 सी ई का है। सातवीं सदी के अंतिम भाग में पांड्य शासक द्वारा शैव धर्म स्वीकार करने के बाद पेच्चिप्परई में जैन मंदिर के निर्माण को अचानक रोक दिया गया। इसी प्रकार, अलाकरमलाई प्रारंभ में एक जैन और बौद्ध केंद्र था, कालांतर में इसे एक वैष्णव केंद्र में तब्दील कर दिया गया।

एक अन्य संघर्ष जैनों और 63 शैवों में से दो, नेमी नंदी अडिगल और दंडी अडिगल, के बीच का पता तंजौर के तिरुवरूर से चलता है। यह कहा जाता है कि तिरुवरूर में स्थित जैन मठ को ढहा दिया गया और एक शिव मंदिर का निर्माण किया गया। मूल रूप से तिरुवरूर मंदिर 9वीं सदी में आदित्य प्रथम और परांतक प्रथम के काल में निर्मित किया गया, यह ईटों की एक संरचना थी। कालांतर में 10वीं सदी में चोल महारानी महादेवी द्वारा इसे पत्थरों से पुनः निर्मित किया गया।

नागपट्टिनम एक बौद्ध केंद्र था, जहां आठवीं सदी में बौद्ध और वैष्णव-अलवर तिरुमंगई के बीच संघर्ष हुआ और बुद्ध की स्वर्ण प्रतिमा को लूट लिया गया। इसी प्रकार कुंभकोणम के निकट पलैरई, जो एक जैन केंद्र था, में शैव अप्पार और जैनों के बीच संघर्षों का पता चलता है। चोल शासक की सहायता से अप्पार द्वारा एक शैव मंदिर की स्थापना का पता चलता है। चिदंबरम, (दक्षिणी अरकॉट ज़िला), चोलों की राजधानी, में शैव मणिक्कवचकार और बौद्धों के बीच संघर्ष का ज़िक्र है जो शैव-गुरु की सफलता में परिणत हुआ।

इसी प्रकार, वैष्णव अलवार संत तिरुमंगाई, तोंडारदिप्पोडि और तिरुमलैचाई श्रमणिक प्रथाओं और तौर-तरीकों के घोर विरोधी थे। इस प्रकार 'भक्ति के इन अनुयायियों ने जैन और बौद्ध धर्म के खिलाफ लगभग एक धर्म युद्ध सा छेड़ दिया था और सक्रिय रूप से इन गैर-ब्राह्मण संप्रदायों के कमोबेश पूर्ण विनाश के लिए राजकीय समर्थन पाने की कोशिश की' (चम्पकलक्ष्मी 2011: 448)। बोधीमंगई में चंपनतार की शास्त्रार्थ में विजय तथा चोल प्रदेश से बौद्धों की पूर्णतः पराजय और मदुरै में, पांड्य प्रदेश से जैनों का पराभव; चिदंबरम में अप्पार का बौद्धों से शास्त्रार्थ तथा शैवों की विजय ब्राह्मण संप्रदायों के क्रमिक रूप से प्रभुत्वशाली बनते जाने का संकेत करती है और श्रमणिक मत-संप्रदायों के महत्व के निरंतर कम होते जाने का भी।

लेकिन सत्ताधारी वंशों ने अन्य मत धारण करने वालों के प्रति सहिष्णु रुख अपनाया था। राजराजा प्रथम, जो स्वयं एक शैव था किंतु वैष्णवों के प्रति भी समान रूप से सहिष्णु था। उनकी बहन कुंडवा द्वारा दादापुरम् (दक्षिण अरकॉट) में शिव तथा विष्णु दोनों के लिए मंदिर निर्माण करने का ज़िक्र मिलता है। कांची के पल्लव नरेश राजसिम्ह द्वारा नागपट्टिनम् में बौद्ध उपासना स्थल के निर्माण का ज़िक्र भी मिलता है। चोल राजा राजराजा प्रथम द्वारा चूड़ामणिवर्मा के प्रसिद्ध बौद्ध विहार को अनैमंगलम् में एक गाँव प्रदान किया गया था, जिसे बाद में कुलोत्तुंग प्रथम ने भी जारी रखा। लेकिन, तंजौर जिले के एक अभिलेख में 1160 सी ई में महासभा के एक संकल्प द्वारा 'शैवों और वैष्णवों के बीच मेलजोल को निषिद्ध' कर दिया गया था।

छठी-सातवीं शताब्दी में शुरू होने वाला यह संघर्ष कई सदियों तक जारी रहा। 'सर्वोच्चता और उत्तरजीविता की इस दौड़ में बौद्धों द्वारा ''रूढ़िवादी'' संप्रदायों के आगे अपनी स्थिति गवाँ देने का आभास होता है, वहीं जैनों द्वारा अस्तित्व में बने रहने के लिए, व्यापार, शिल्प और वाणिज्य के इतर, दूसरे अन्य प्रकार के समर्थनों की ओर रुख किया गया और अपने धार्मिक संगठन में, भूमि अनुदानों के अधिग्रहण के अलावा, पौराणिक ढाँचों को शामिल किया, जैसे मंदिर निर्माण और आनुष्ठानिक उपासना' (चम्पकलक्ष्मी 2011: 450)। बौद्ध धर्म व्यवहारतः मिट चुका था, यद्यपि जैन धर्म ने उपासना के पौराणिक स्वरूपों को अपनाकर और 'मंदिरों को परिवर्तन की युक्ति के रूप में स्वीकार कर' अपना अस्तित्व बनाए रखा। तथापि, वे व्यवहारिक रूप से सभी सत्ता के केंद्रों में पृष्ठभूमि में धकेल दिए गए थे और ग्रामीण शिल्प केंद्रों की ओर उनका विस्थापन हुआ। शिर्रामुर (चित्तमूर) ऐसा ही एक जैन केंद्र था जो पूर्व मध्यकाल से वर्तमान समय तक अस्तित्व में बना रहा है। इसे तमिल जैनों के प्रमुख *मठ* के रूप में समझा जाता है। सिवायम की ऊँची चट्टानों पर उत्कीर्ण जैन प्रतिमाएँ तथा चोलनाडु में पुडुर उत्तमनुर; *को नाडु* में स्थित सित्तनवासल (पुदुक्कोट्टई), तिरुवेन्नइल; और तिरुगोकर्णम् *पांड्य नाडु* में मदुरई के आसपास की पहाड़ियाँ; तथा कोंगुनाडु में स्थित तिरूमूर्तिमलाई, तिंगलूर, विजयमंगलम् और धर्मपुरी पूर्व मध्यकाल में अन्य प्रमुख जैन केंद्र थे।

लेकिन ऐसा विश्वास किया जाता है कि आपस में कुछ हद तक एक-दूसरे के मध्य आदान-प्रदान की प्रक्रिया भी थीः शैवों ने अपने *मठ* (शैव मठों की स्थापना) के संगठन को श्रमणिक परंपरा से ग्रहण किया था, 63 नयनारों का विचार भी 63 जैन शलाकापुरुषों (महान् पुरुषों/तीर्थंकरों) के पैटर्न पर आधारित था। इस प्रक्रिया में ब्राह्मण धर्म मुख्य परंपरा के रूप में उभर कर आया। परसंस्कृतिकरण और आत्मसातीकरण की प्रक्रियाओं के द्वारा लोकप्रिय और लोक आधारित एवं जनजातीय तत्वों को

भी इस प्रक्रिया में अपनाया गया। 63 नयनारों में से केवल 12 ही ब्राह्मण जाति से संबंध रखते हैं, वहीं तेरह वेल्लाल-कृषक समुदाय से, चार वणिक समुदाय से, एक *वेदार* (शिकारी), एक *सलिय* (जुलाहा) तथा एक *वन्नार* (धोबी) तथा एक अन्य *परिया* (अवर्ण) से।

बोध प्रश्न-3

1) श्रमणिक, वेदांतिक और शैव परंपराओं में संघर्ष के लिए उत्तरदायी कौन से कारक थे?

.....

.....

.....

2) पाटलिपुत्र में शैव तथा जैनों के बीच संघर्ष पर चर्चा कीजिए तथा अंततः जैन परम्परा की जड़ें वहाँ से कैसे समाप्त हुईं।

.....

.....

.....

3) दक्षिण भारत में बौद्ध-वैष्णव संघर्ष का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

16.5 सारांश

इस इकाई में हमने जैन और बौद्ध धर्म के क्रमिक रूप से शिथिल पड़ते जाने पर चर्चा की है। यद्यपि जैन धर्म गुजरात, राजस्थान और दक्षिण भारत के कुछ हिस्सों में स्वयं को बचाए रख सका। हमारे अध्ययन काल के समाप्त होने तक, बौद्ध धर्म पूर्णतः अपने जन्मस्थान से लुप्त हो चुका था। यह इकाई दक्षिण भारत में वेदांतिक परंपरा के विकासक्रम की भी चर्चा करती है। इसके उदय की शुरुआत सातवीं शताब्दी में शंकर के साथ हुई और हमारे अध्ययन काल के दौरान वैष्णव *आचार्यों* के तत्वाधान में इसने पूर्णता प्राप्त की। यद्यपि शंकर द्वारा घोषित वेदांत (*अद्वैत* दर्शन) वैष्णव *आचार्यों* की कड़ी आलोचना का शिकार हुआ, जिनकी 'भक्ति' का आदर्श प्रत्यक्ष रूप से शंकर की 'माया' के सिद्धांत से विरोधाभास रखता था। इसी प्रकार इन वैष्णव *आचार्यों* ने विष्णु की *भक्ति* के आदर्श का उपदेश दिया तथापि राम-सीता और कृष्ण-राधा की भक्ति को भी प्रमुखता मिली। इस काल की एक अन्य प्रमुख विशेषता श्रमणिक (जैन और बौद्ध) तथा वैष्णव और शैव भक्ति परंपराओं के बीच तीव्र संघर्ष थी, जो अंततः वैष्णव अलवारों तथा शैव नयनारों के तत्वाधान में ब्राह्मणवादी सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था के आरोहण को प्रदर्शित करता है।

16.6 शब्दावली

पूर्व मीमांसा	*मीमांसा* का शाब्दिक अर्थ 'गहन चिंतन' से है। *पूर्व मीमांसा* वेदों के प्रारंभिक भाग से सम्बंध रखती है। *पूर्व मीमांसा* का सम्बंध वेदों के शुरुआती भाग से सम्बंधित वैदिक अनुष्ठानों की दार्शनिक तार्किकता प्रस्तुत करने से है
***श्रमणिक* परम्परा**	बौद्ध और जैन परम्पराएँ
उत्तर मीमांसा	वेदों के अंतिम भाग अर्थात् *उपनिषदों* पर चिंतन। इसे *ज्ञान मीमांसा* के नाम से भी जाना जाता है
वेदांतिक परम्परा	*उपनिषदों* पर आधारित दर्शन। इसने अपने विचारों को मुख्यतः *ब्रह्म-सूत्र* और *भागवद्गीता* से लिया है

16.7 बोध प्रश्नों का उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें उप-भाग 16.2.1

2) देखें उप-भाग 16.2.1

3) देखें उप-भाग 16.2.2

4) देखें उप-भाग 16.2.2

बोध प्रश्न-2

1) देखें भाग 16.3

2) देखें भाग 16.3

3) a) देखें उप-भाग 16.3.2; b) देखें उप-भाग 16.3.3

बोध प्रश्न-3

1) देखें भाग 16.4

2) देखें भाग 16.4

3) देखें भाग 16.4

16.8 संदर्भ ग्रंथ

भट्टाचार्जी, यू. सी., (1979) 'जनरल डेवलपमेंट ऑफ फ़िलासफ़ी', *द स्ट्रगल फ़ॉर एम्पायअर,* (संपा.) आर. सी. मजूमदार (बॉम्बेः भारतीय विद्या भवन).

चम्पकलक्ष्मी, आर., (2011) *रिलीज़न, ट्रेडिशन, एंड आइडियोलॉजीः प्री-कोलोनियल साउथ इंडिया* (नई दिल्लीः ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

दास, एन.एन., (1979) 'बुद्धिज़्म', *द स्ट्रगल फ़ॉर एम्पायअर,* (संपा.) आर. सी. मजूमदार (बॉम्बेः भारतीय विद्या भवन).

जैन, एच.एल., (1979) 'जैनिज़्म', *द स्ट्रगल फ़ॉर एम्पायअर,* (संपा.) आर. सी. मजूमदार (बॉम्बेः भारतीय विद्या भवन).

सरकार, डी. सी., (1979) 'वैष्णविज़्म', *द स्ट्रगल फ़ॉर एम्पायअर,* (संपा.) आर. सी. मजूमदार (बॉम्बेः भारतीय विद्या भवन).

16.9 शैक्षणिक वीडियो

थ्री फेसेस ऑफ वेदान्तः शंकराचार्य, माधवाचार्य एंड रामानुजाचार्य
https://www.youtube.com/watch?v=tlmdRFz1DVs

व्हाइ जैनिज़्म डिक्लाइन्ड इन तमिलनाडु
https://www.youtube.com/watch?v=BZQ0lnUd7g8

इंडियाः व्हाइ डिड बुद्धिज़्म मोस्टली डिसएपियर फ्रॉम इंडिया?
https://www.youtube.com/watch?v=MxEhmCc2LhQ

इकाई 17 मंदिर, मस्जिद और *दरगाह*: स्वरूप, संदर्भ एवं अभिप्राय*

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 भारत में मंदिरः संदर्भ और स्वरूप

17.3 मंदिर निर्माणः 1200-1550

17.4 मस्जिद निर्माणः संदर्भ और स्वरूप

17.5 मस्जिदों का संरचनात्मक विकास

17.6 *दरगाहः* सामाजिक संदर्भ और अभिप्राय

17.7 *दरगाहों* के पैटर्न और स्वरूप

17.8 सारांश

17.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

17.10 शब्दावली

17.11 संदर्भ ग्रंथ

17.12 शैक्षणिक वीडियो

17.0 उद्देश्य

इस इकाई का संबंध भवनों और उनके सामाजिक परिवेश के संदर्भ में मध्यकालीन भारत (1200-1550) के सांस्कृतिक विकास-क्रम से है। विस्तृत अध्ययन के लिए चुनी गई तीन विशिष्ट प्रकार की इमारतें मंदिर, मस्जिद और ***दरगाह*** हैं। गौरतलब है कि मस्जिद और *दरगाह* जैसी इमारतें भारत में तुर्क विजय के बाद अस्तित्व में आईं जबकि मंदिरों का अस्तित्व प्राचीन अतीत से ही रहा है। इस इकाई का अध्ययन आपके लिए सहायक होगाः

- इमारतों की वास्तुकला के स्वरूप को समझने में,
- इमारतों के सामाजिक संदर्भ का मूल्यांकन करने में, और
- इन इमारतों के संरचनात्मक विकास-क्रम की समझ पैदा करने में।

17.1 प्रस्तावना

भारत में तेरहवीं सदी की शुरुआत अपने साथ कई महत्वपूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक विकास-क्रमों को लेकर आई। तराईन के दो युद्धों (1191-92) के बाद तुर्क शासन की स्थापना और दिल्ली पर कुतबुद्दीन ऐबक के नियंत्रण ने नए धर्म और उससे सम्बंधित नई क़िस्म की इमारतों – मस्जिद और *दरगाह* का प्रचलन शुरू किया। ये इमारतें अपने विन्यास और वास्तुकला शैली में पहले से मौजूद इमारतों की क़िस्मों से भिन्न थीं और इन्होंने एक नए प्रकार के सामाजिक परिवेश को जन्म दिया। तेरहवीं सदी के दौरान और उसके बाद, पहले से प्रचलित और इन 'नई' क़िस्म की इमारतों और सम्बंधित वास्तुकला की शैलियों ने दिलचस्प ढंग से एक-दूसरे पर असर डाला। इसने तकनीकों, शैलियों, संरचना और अलंकरणों का ऐसा मिश्रण पैदा किया, जिसकी मिसाल कहीं अन्यत्र मिलना दुर्लभ ही है। यह इकाई प्राथमिक रूप से इन 'नई' क़िस्म की इमारतों की उत्पत्ति, विशेष रूप से

* **प्रो. रविन्द्र कुमार, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।**

इस इकाई में दिये गए फोटोग्राफ, उन फोटोग्राफों को छोड़कर जहाँ अन्य *साभार* दिये गए हैं, सभी फोटोग्राफ *साभार* प्रो. रविन्द्र कुमार हैं।

मस्जिद और *दरगाह* की, से सम्बंध रखती है, और इनके सामाजिक संदर्भ व इनकी संरचना/ढाँचे में निहित 'अभिप्रायों' की विवेचना करती है। यह इकाई, प्रारम्भ में ही, पूर्व से प्रचलित इमारत की क़िस्म अर्थात् मंदिर के शैलीगत विकास की भी विवेचना करती है। यह तुर्कों द्वारा लाए गए नए धर्म के उदय और विकास का मंदिर के सामाजिक संदर्भ में होने वाले प्रभाव, यदि कोई हो, की सम्भावना का भी अन्वेषण करती है।

17.2 भारत में मंदिरः संदर्भ और स्वरूप

अपने संरचनात्मक स्वरूप में मंदिरों की उत्पत्ति को अक्सर प्रथम शताब्दी बी सी ई में उदयगिरी (ओडिशा) की गुफा-5 में बनी वेदिका से घिरे एक पवित्र वृक्ष से अनुरेखित किया जाता है। स्वतंत्र रूप से प्रतिष्ठित मंदिरों की संरचनाएँ गुप्तकाल से मिलती हैं। कुछ महत्वपूर्ण स्थलों में उत्तर प्रदेश के देवगढ़ और नाचना-कुठारा और मध्य प्रदेश के एरण और विदिशा शामिल हैं। इसके बाद के काल में देवी और देवताओं की मूर्तियों से प्रतिष्ठित मंदिरों का निर्माण नियमित रूप से होने लगा था।

चित्र 17.1: वेदिका, उदयगिरि

फोटोग्राफ साभारः जे. सी. हार्ले, *आर्ट एंड आर्कीटेक्चर ऑफ द इंडियन सबकॉन्टीनेन्ट*

चित्र 17.2: नाचना-कुठारा मंदिर

चित्र 17.3: दशावतार मंदिर, देगगढ़

किसी हिंदू मंदिर के मानक रूप में एक छोटा सा *गर्भगृह* शामिल होता है, जहाँ देव-मूर्ति को रखा जाता है। यह *गर्भगृह* एक हॉल में खुलता है जहाँ उपासक धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने और आराधना करने हेतु एकत्र होते हैं। इसे *मंडप* कहा जाता है। यह *मंडप* अक्सर *गर्भगृह* से, हालांकि हमेशा नहीं, एक छोटे गलियारे द्वारा जुड़ा होता है जिसे *अंतराल* कहते हैं। *गर्भगृह* के ऊपर शिखर सुशोभित होता है, तथा मंदिर के अन्य हिस्सों से छोट-छोटे *शिखर* उठे रहते हैं। मंदिर अक्सर एक ऊँचे चबूतरे पर निर्मित किया जाता है, और प्रायः यह एक अहाते द्वारा घिरा होता है। देश में मुख्यतः दो प्रचलित शैलियाँ सुविदित हैं – उत्तर में *नागर* और दक्षिण में *द्राविड*। कभी-कभी विद्वानों द्वारा *नागर* और *द्राविड* शैली के चुनिंदा मिश्रण से गढ़ी गई *वेसर* शैली का स्वतंत्र मंदिर निर्माण शैली के रूप में ज़िक्र किया जाता है। यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि प्रत्येक क्षेत्र और काल ने अपनी विशिष्ट शैली का निर्माण किया है। सामान्यतः मंदिर को विस्तृत प्रतिमाओं और दीवारों पर अलंकरणों से आवृत्त किया जाता था, जो मंदिर की संकल्पना का आधारभूत अंग था।

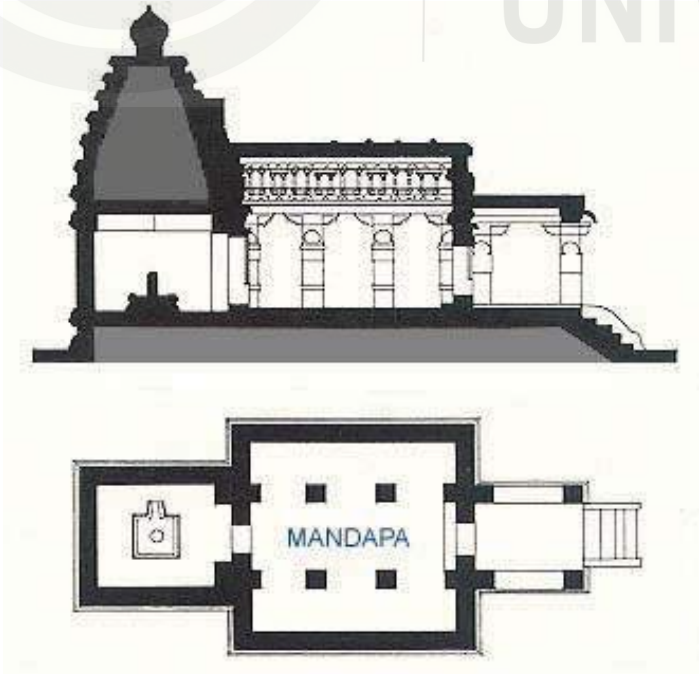

चित्र 17.4: मंदिर की संरचना

मंदिर परिसर में मुख्य संरचना के चारों ओर कई गौण पूजा स्थल भी होते थे। ये गौण मंदिर मुख्य देवता के परिवार या अवतारों को समर्पित होते थे। मंदिर में अलंकरण हेतु कई वास्तुकला के तत्व जैसे *गवाक्ष, व्याल/व्याली, कल्पलता, आमलक, कलश,* इत्यादि का विभिन्न तरीक़ों से और विभिन्न स्थानों पर प्रयोग किया जाता था।

17.3 मंदिर निर्माणः 1200-1550

मंदिर निर्माण की प्राचीन भारतीय परम्परा ने प्रमुख निर्माण सामग्री के रूप में काष्ठ सामग्री के प्रयोग का अनुसरण किया था। जैसा कि ऊपर उल्लिखित है, पत्थर/ईंट से निर्मित स्वतंत्र रूप से प्रतिष्ठित मंदिर भारतीय वास्तुकला के परिदृश्य में गुप्तकाल से ही नज़र आते हैं; ये प्रारम्भिक मंदिर कालांतर में भव्य स्वरूप ग्रहण करने लगे तथा जब प्रमुख भवन निर्माण सामग्री के रूप में पत्थर और ईंट ने लकड़ी की जगह ले ली, यह मंदिर भारत के सभी हिस्सों में दिखाई देने लगे। जब हम तेरहवीं सदी में प्रवेश करते हैं तो हम राजनीतिक परिदृश्य और वास्तुकला तकनीकी के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन पाते हैं। वास्तुकला तकनीकी में राजगीर निर्माण के क्षेत्र में (masonry) नवीन तकनीकों को अपनाया गया जो भवनों के नवीन संरचनात्मक स्वरूपों के अनुरूप था। हम इन दोनों ही परिवर्तनों के विकास की चर्चा इस इकाई में करेंगे। आइए, पहले हम 1200-1500 सी ई के मध्य मंदिर निर्माण शैली का अध्ययन करें।

ए. एल. बाशम (1954) भारतीय मंदिर निर्माण शैली की प्रमुख विशिष्टताओं को निम्नलिखित शब्दों में उल्लेखित करते हैं: "मंदिर अलंकरणों से सुसज्जित किया गया था, प्रायः मंदिर के अंधेरे कक्षों में भी केवल दीपकों का झिलमिलाता प्रकाश होता था। शैलकृत वास्तुकला में इस भारी-भरकम अलंकरण के बावजूद भी इस परंपरा की प्रशिक्षुता ने वास्तुविद को भव्यता का एक मजबूत अहसास प्रदान किया। भारी भरकम कंगनियाँ (cornices), सुदृढ़ स्तंभ – ऊंचाई के अनुपात में अधिक चौड़े और *शिखर* का चौड़ा आधार, भारतीय मंदिर वास्तुकला को शुद्ध और ठोसपन का अहसास प्रदान करता था, जो केवल बारीकी से अलंकृत क्षैतिज पट्टिकाओं और प्रखर अथवा हल्की उकेरी (relief) गई प्रतिमाओं द्वारा ही प्रति-संतुलित होता था, जिससे प्रायः मंदिर की दीवारों का संपूर्ण पृष्ठ भाग आच्छादित रहता था।" वह वर्णन करते हैं: "क्षेत्र के विस्तार को देखते हुए भारतीय मंदिर वास्तुकला उल्लेखनीय रूप से समरूप थी लेकिन शास्त्रीय विधान दो मुख्य शैलियों और विभिन्न परंपराओं का उल्लेख करता है। उत्तरी या भारतीय-आर्य {*नागर*} शैली जो एक गोलाकार शीर्ष तथा वक्र-रेखीय प्रारूप वाले शिखर को प्राथमिकता देती है; जबकि दक्षिणी या *द्राविड़* शैली का शिखर आयताकार रूप में ऊपर की ओर घटते हुए पिरामिडीय आकार का होता है"।

यह कुछ हद तक विडंबना ही है कि उत्तर भारत से 5वीं से 13वीं सदी के बीच के बहुत कम मंदिरों की संरचनाएं ही शेष रह गई हैं अतः जब हम मध्यकाल में प्रवेश करते हैं तो पाते हैं कि दक्षिण भारत में उपलब्ध मंदिरों की अपेक्षाकृत अधिक संख्या की तुलना में उत्तर भारत में मंदिरों के अवशेष कम ही संख्या में उपलब्ध हैं। भारत में पल्लव और चालुक्य शासकों द्वारा छठी से आठवीं सदी के बीच प्रदत्त संरक्षण ने मंदिर निर्माण के कार्य को अत्यंत लाभ पहुँचाया। प्रारंभिक महत्वपूर्ण पल्लव मंदिर मामल्लपुरम में पाए जाते हैं। चालुक्यों के मंदिर, मैसूर में स्थित, उनकी राजधानी बादामी तथा निकट के स्थल एहोल में पाए जाते हैं। "यह शैलियाँ वास्तुकला की तक्षण तकनीकों और गुफा वास्तुकला से क्रमिक मुक्ति को प्रदर्शित करती हैं" (बाशम 1954)।

मध्यकाल में चोल वंश का आधिपत्य था। चोलों के सबसे उत्कृष्ट विशाल भव्य मंदिरों में राजराजा महान् (985-1014) द्वारा तंजावुर में निर्मित शिव मंदिर तथा उनके उत्तराधिकारी राजेंद्र प्रथम (1014-1044) द्वारा कुंभकोणम के निकट स्थित अपनी नई राजधानी गंगैकोंडचोलपुरम में निर्मित मंदिर हैं। तंजावुर का बृहदेश्वर का शिव मंदिर उस समय तक भारत में बनाए गए विशालतम मंदिरों में से था। यह दोनों मंदिर स्तंभ युक्त हॉल तथा उत्कृष्ट अलंकरणों से सुसज्जित हैं।

बारहवीं सदी से मंदिर परिसर को चारों ओर द्वारों से युक्त दीवार से दुर्गीकृत करने की रीति आम प्रचलन में आई। यह द्वार बाद में विशाल और भव्य *गोपुरम्* के रूप में विकसित हुए, सामान्यतः मुख्य पूजाकक्ष के ऊपर स्थित शिखर से भी ये ऊँचे होते थे। चोलों के उत्तराधिकारी पांड्य राजाओं के द्वारा पहले से मौजूद मंदिरों के चारों ओर दीवारों और *गोपुरमों* का निर्माण करवाया गया। पांड्य शैली की परिणति मदुरई, श्रीरंगम् तथा अन्यत्र स्थित भव्य मंदिर परिसरों में देखने को मिलती है, जिनका वर्तमान स्वरूप 17वीं सदी से सम्बंध रखता है, जो हमारी काल-विवेचना से बाहर है।

चित्र 17.5: बृहदेश्वर मंदिर, तंजावुर

चित्र 17.6: श्रीरंगम् मंदिर, गोपुरम्

चित्र 17.7: मीनाक्षी मंदिर, गोपुरम्

अन्य विशिष्ट मंदिर विजयनगर में हैं। इनमें प्रमुख मंदिर विट्ठल तथा हज़ारा रामा मंदिर हैं। विट्ठल मंदिर सर्वाधिक अलंकृत मंदिर है। इसका प्रारम्भ 1513 में राजा कृष्णदेव द्वारा कराया गया तथा उसके उत्तराधिकारी अच्युत राजा (1529-42) ने इसके निर्माण कार्य को जारी रखा, किंतु अपने भव्य स्वरूप के कारण यह कभी भी अपना अंतिम रूप नहीं ले सका। यह एक आयताकार प्रांगण में स्थित है, जिसके चारों ओर तीन पंक्तियों में सुसज्जित स्तम्भों से युक्त एक गलियारा है। मंदिर का प्रवेश तीन *गोपुरमों* से है। मुख्य इमारत विट्ठल या विठोबा (पांडुरंग) रूप में विष्णु को समर्पित है, जो कृष्ण का एक मूर्त रूप हैं।

चित्र 17.8: विट्ठल मंदिर, विजयनगर

चित्र 17.9: हज़ारा रामा मंदिर, विजयनगर

उत्तर भारत में एक विशिष्ट मंदिर परम्परा जो 8वीं-9वीं सदी से अस्तित्व में है तथा जिसके कुछ नमूने वर्तमान में विद्यमान हैं, ओडिशा से सम्बंध रखती है। पर्सी ब्राउन (1942) के अनुसार "... ओडिशा के मंदिर भारतीय-आर्य (उत्तर-भारतीय-*नागर*) शैली के अध्ययन हेतु सर्वाधिक तार्किक आधार-बिन्दु उपलब्ध कराते हैं।" मुख्य मंदिर संरचनाएँ भुवनेश्वर नगर में स्थित हैं जहाँ तीस से भी ज़्यादा ऐसे मंदिरों के उदाहरण विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त दो सर्वाधिक विशाल तथा महत्वपूर्ण संरचनाएँ – पुरी का जगन्नाथ मंदिर (*c*.1100), तथा कोणार्क का सूर्य मंदिर (*c*.1250) – हैं।

चित्र 17.10: कोणार्क मंदिर

साभार : Alopprasad84; January 2011; CC-By-3.0

स्रोत : https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Konark_Temple_Panorama2.jpg

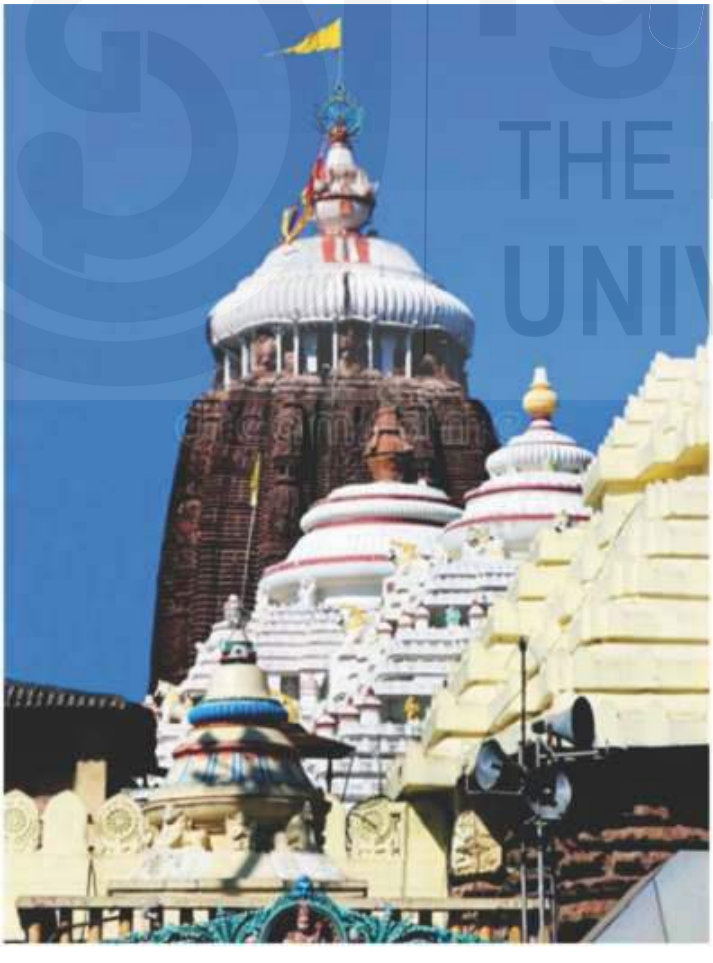

चित्र 17.11: जगन्नाथ मंदिर, पुरी

पर्सी ब्राउन (1942) उड़िया शैली को मंदिर वास्तुकला में एक स्वतंत्र गतिविधि का संकेत मानते हैं: "... अपने कई पहलुओं में वास्तुकला का यह विकास-क्रम काफ़ी हद तक स्वतंत्र प्रवृत्ति का था। न केवल इनकी योजना तथा इन धार्मिक संरचनाओं का सामान्य निरूपण विशिष्ट चरित्र लिए हुए था, बल्कि भवन निर्माण की यह कला स्वयं में एक पृथक् और विशिष्ट नामपद्धति धारण करती है। किसी मंदिर को सामान्यतः *देउल* कहा जाता है, किंतु प्राथमिक रूप से मंदिर की इमारत में अधिकांशतः केवल *गर्भगृह* होता था, अतः यह शब्द इस शिखरनुमा ढाँचे के लिए भी प्रयुक्त होता था। *देउल* के ठीक सामने वर्गाकार सभाकक्ष होता था, जो अन्य जगहों पर मंडप के समान ही था, लेकिन यहाँ इसे *जगमोहन* कहते थे। ये दोनों भव्य इमारतें संयुक्त रूप से उड़िया मंदिर शैली के सारतत्व को प्रदर्शित करती हैं।" बाद में इस योजना में एक और ढाँचा जोड़ा गया जिसे *भोग-मंडप* कहा जाता था। जगन्नाथ मंदिर, पुरी तथा सूर्य मंदिर, कोणार्क ओडिशा शैली के पूर्ण विकसित स्वरूप के नमूने हैं।

बोध प्रश्न-1

1) नीचे दिए स्थान पर मंदिरों के संरचनात्मक स्वरूप के बारे में लिखिए।

.....

.....

.....

2) ओडिशा के मंदिरों में प्रयुक्त संरचनात्मक पदावली में तीन प्रमुख अंतरों के विषय में लिखिए।

.....

.....

.....

3) 12वीं सदी के बाद मंदिर संरचना में आने वाले प्रमुख परिवर्तनों की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

17.4 मस्जिद निर्माणः संदर्भ और स्वरूप

भारत में तुर्क शासन की स्थापना के साथ, इस्लाम का आगमन अपने साथ सर्वाधिक महत्वपूर्ण धार्मिक संरचना, मस्जिद, को लेकर आया, और अन्य कई इस्लामिक संरचनाओं के साथ-साथ इसने मस्जिद को भारत में मज़बूती के साथ स्थापित किया। इसे एक सार्वजनिक संरचना माना जाता था, यद्यपि, मध्यकाल में व्यक्तिगत प्रयासों से स्थापित या व्यक्तिगत दान के आधार पर स्थापित मस्जिदें भी भारत में अपरिचित नहीं थीं। मस्जिद वह सार्वजनिक स्थान है, जहाँ अनुयायी एकत्रित होते हैं और नमाज़ अदा करते हैं।

भारत में मस्जिद के ढाँचे का जे बर्टन-पेज (2008) सुस्पष्ट विवरण देते हैं: "मस्जिद के आंतरिक हिस्से में दो सुपरिभाषित प्रकारों से इतर थोड़ी बहुत ही भिन्नता दिखाई देती है। एक क़िस्म में, मस्जिद का पश्चिमी छोर (जिसे भारत में *लीवान* के रूप में जाना जाता है) सामान्य रूप से व्यवस्थित खंभों के ऊपर टिकी छत के रूप में होता है, जिसमें सामान्यतः तीन गहरे कक्ष होते थे, किंतु यह अधिक भी हो सकते थे; छत या तो शहतीर और कोष्ठकों के ऊपर टिकी होती थी, या *मेहराबों* पर। ऐसा नहीं था कि इसमें से पहला तरीक़ा केवल हिंदू और जैन मंदिरों से लूटी हुई सामग्री की उपलब्धता तक ही सीमित था। *लीवान* का प्रवेश सीधे तौर पर ***सहन*** के दूसरे हिस्से से स्तंभ्युक्त वीथिका या गलियारे से जुड़ा होता था... दूसरे क़िस्म की मस्जिदों में, *लीवान* भौतिक रूप से पश्चिम दिशा में *मक़रा* (***मेहराबों***) की श्रृंखला से बनी आड़ के द्वारा ***सहन*** से अलग रहता था ... सामान्य रूप से यद्यपि *मक़रा* की *मेहराबें* आधारभूत *मेहराब*-व्यवस्था (vaulting) का हिस्सा होती थीं, जबकि *लीवान* एक या दो कक्षों से मिलकर बना होता था; *मक़रा* की *मेहराबों* की संख्या हमेशा विषम होती थी, और आमतौर पर मुख्य *मेहराब* के सामने वाले कक्ष को विशेष रूप देने के लिए चुना जाता था, या तो इसे अन्य से लंबा बनाकर या विशेष रूप से अलंकृत कर ... *लीवान* की

छत तक जाने के लिए, सामान्यतः सीढ़ियों की व्यवस्था होती थी या तो अलग से, या दीवार में ही निकाली हुई या किसी मीनार के आधार से, चूँकि यह *अज़ान* देने का पसंदीदा स्थान था, अतः इसके दरवाजे से ही इस हेतु सीढ़ियाँ निकाली जा सकती थीं। *लीवान* की छत एक या अधिक गुंबदों से ढकी रहती थी।"

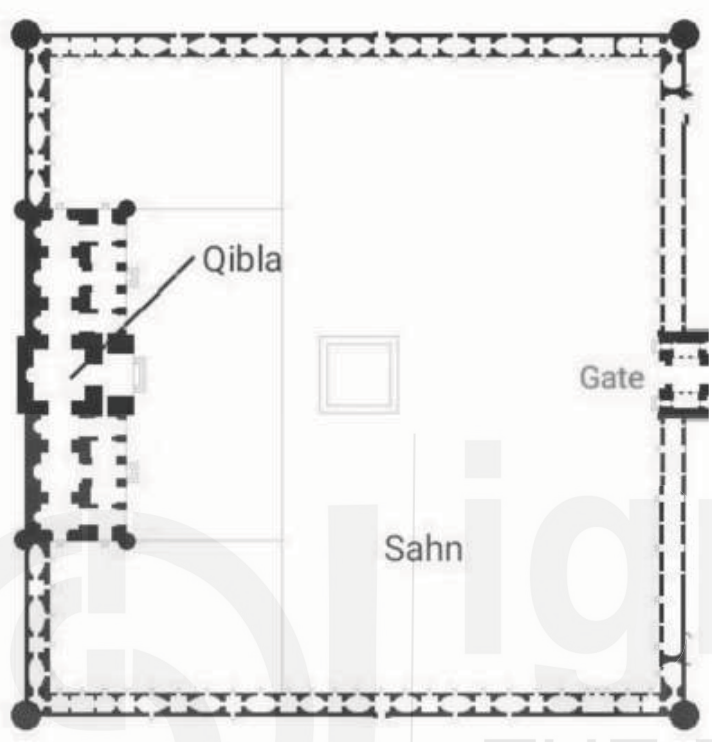

चित्र 17.12: मस्जिद की संरचना

भारत में प्रारंभिक मस्जिद वास्तुकला का निर्माण तराशे हुए पत्थर से किया गया है। इस परिस्थिति में तराशे हुए पत्थर वास्तुकला के अलंकरण का मुख्य साधन बन गए। निर्माण तथा सजावट दोनों के लिए ही पत्थर को प्राथमिकता देना चौदहवीं शताब्दी तक जारी रहा। मस्जिद में सर्वाधिक अलंकृत हिस्से ***क़िबला*** की दीवार और *मेहराब* होते थे, अरबी सुलेखन का अलंकरण के रूप में प्रयोग सजावट का एक बहुत ही महत्वपूर्ण रूप बन गया। यह ध्यान देने योग्य है कि मस्जिद का बाहरी हिस्सा सामान्यतः सादगी भरा होता था।

आरंभिक सल्तनत काल में मस्जिदों का निर्माण स्थानीय शिल्पकारों द्वारा किया गया। मस्जिद के निर्माण में कार्यरत स्थानीय राजगीरों को नई परिस्थितियों में काम करना था, इसने उन्हें इस स्थिति में डाल दिया जहाँ उन्हें भिन्न डिज़ाइन और संयोजन को अपनाना था। इसी के साथ नए शासक (मुस्लिम संरक्षक) अपनी निर्माण की जरूरतों के लिए स्थानीय रूप से उपलब्ध राजगिरी के उपलब्ध कौशल को स्वीकारने के लिए बाध्य थे; उन्हे स्थानीय कामगारों के निर्माण कौशल को सकारात्मक अंदाज में प्रयोग में लाना था। प्रारंभिक वर्षों में एक संतुलित स्थिति पर पहुँचना मुश्किल रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि इस तरह का समझौता व्यापक रूप से हुआ था, जब हम प्रारंभिक मस्जिदों की संरचना (उदाहरण के लिए, कुव्वतुल इस्लाम मस्जिद, दिल्ली और अढ़ाई दिन का झोपड़ा मस्जिद, अजमेर) को देखते हैं। अधिक नक्काशी-युक्त सतहों तथा कम उभरे हुए आंतरिक हिस्सों को अपनाकर इस तरह का संतुलन प्राप्त किया गया। राजगीर ने नए शासकों द्वारा उपलब्ध कराए गए नमूने या मोटे ख़ाके के आधार पर इन ढाँचों और संरचनात्मक अभिकल्पनाओं को ग्रहण किया होगा। स्थानीय निर्माणकर्ताओं की योग्यता और इस्लामिक संरक्षक की ज़रूरतों के बीच इस तरह एक बीच का रास्ता निकाल लिया गया था।

स्वरूप के संबंध में न्यूनतम शर्तों के साथ इस्लामी संरचनाओं की प्रकार्यात्मक ग्राह्यता या लचीलापन एक महत्वपूर्ण और विशिष्ट तथ्य है। अर्न्स्ट जे. ग्रूब इस्लामी वास्तुकला में किसी इमारत के स्वरूप

और उसके प्रकार्य के बीच इस महत्वपूर्ण सम्बन्ध की ओर हमारा ध्यान खींचते हैं: "किसी विशिष्ट कार्य के लिए किसी विशिष्ट वास्तुकला के स्वरूप की सुस्पष्ट और लगभग पूर्ण अनुपस्थिति है। इस्लामी वास्तुकला में बहुत कम संरचनाओं का ही ऐसा स्वरूप है कि उनका विभिन्न उद्देश्यों के लिए उपयोग न किया जा सके; इसके विपरीत किसी ख़ास काम के लिए स्थापित मुस्लिम इमारत कई तरह के स्वरूप ग्रहण कर सकती है या कई तरह से कार्य में लायी जा सकती है।"

"इस विशिष्टता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण मध्य एशिया और ईरान में प्रचलित चतुर्मुखी-***इवान*** अहाते की संरचना है जो इस्लामी विश्व के अन्य हिस्सों में भी पाई जाती है। यह संरचनाएँ, अलग-अलग समय पर तथा अलग-अलग जगहों में, समान रूप से महल, मस्जिद, मदरसा *कारवाँ-सराय, हमाम* और निजी निवास के लिए काम में आती थीं। वस्तुतः, इनका निर्माण इन सभी तरह के प्रकार्यों के निष्पादन करने हेतु किया गया था" (मिशेल 1978: 12)।

भारत में तुर्की शासन की आरंभिक शताब्दियों के दौरान मस्जिद ने मात्र प्रार्थना करने के स्थान के बजाय कुछ अधिक भूमिका निभायी। मस्जिदें सामुदायिक जीवन का केंद्र थीं; अधिकांशतः विद्यालय उनके साथ जुड़े हुए थे, उसी तरह से यात्रियों के लिए ठहरने के स्थान के रूप में यह *सराय* का काम भी करती थीं। मस्जिदें न्याय की अदालतों के रूप में भी कार्य करती थीं, वास्तविकता में यह धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष जीवन के केंद्र में थीं।

उपर्युक्त समस्त विशिष्टताओं के बावजूद मस्जिद प्राथमिक रूप से एक धार्मिक इमारत थी, जहाँ दैनिक रूप से नमाज़ की अदायगी होती थी। इस तरह से यह मुस्लिमों के लिए सबसे महत्वपूर्ण इमारत थी। छोट-मोटे बदलावों के साथ, मस्जिद की निर्माण योजना को उसी के अनुरूप रखा गया, जो भारत में शुरुआती स्तर पर विकसित हुई थी।

17.5 मस्जिदों का संरचनात्मक विकास

भारत में मस्जिद के संरचनात्मक इतिहास का नैरंतर्य दिल्ली में स्थित कुव्वतुल इस्लाम मस्जिद के साथ शुरू होता है, जिसकी स्थापना 1191 में की गई थी। इसका निर्माण जैन मंदिर के अवशेषों से, उसके ढाँचे की सामग्री का प्रयोग करते हुए किया गया था। यह दिलचस्प है कि जिन स्तंभाधारों पर जैन मंदिर खड़े थे, उन्हीं पर मस्जिद के निर्माण ने इसकी दिशा को पश्चिम की सीध में रखने के लिए, जैसा कि मस्जिद निर्माण का शास्त्रीय विधान है, मुश्किलें पैदा की होंगी। इस तरह *क़िबला* को सटीक ढंग से पश्चिम की सीध में नहीं लाया जा सका। सामान्यतः, बहरहाल, *क़िबला* की सही दिशा को ध्यान में रखने का प्रयास किया गया था, "जो दक्षिण भारत में पश्चिम से 20 उत्तर तो सुदूर उत्तर भारत में पश्चिम से 25 दक्षिण के बीच पड़ता है, रूढ़ पश्चिम दिशा का मौलिक इमारतों में विरले ही प्रयोग किया जाता था" (जे. बर्टन-पेज 2008: 42)।

> यद्यपि पूर्व में स्थापित मस्जिदों का भी ज़िक्र मिलता है, जैसे सिंध में अब्बासी ख़िलाफ़त के समय; मुस्लिम व्यापारियों के छोटे समुदायों द्वारा, खासकर गुजरात और मालाबार तट पर; तथा निजी तौर पर अधिकारियों द्वारा जिन्होंने अपने साथ अपने समुदाय के कुछ लोगों को जुटा लिया था। इनके अवशेष भी इतने थोड़े हैं कि उनके बारे में शायद कोई सामान्य वक्तव्य दिया जा सके। एम. शोकूही के हालिया अनुसंधानों ने तुर्क विजय से एक या दो सदी पूर्व की कुछ संरचनाओं, गुजरात के भद्रेश्वर में स्थित, के विषय में जानकारी उपलब्ध कराई है।
>
> **जे. बर्टन-पेज, *इंडियन इस्लामिक आर्किटेक्चर*, लाइडनः ब्रिल, 2008**

विद्वानों द्वारा बारम्बार यह उल्लेख किया गया है कि भारत में प्रारंभिक इस्लामी भवनों के निर्माण में ध्वस्त हिंदू और जैन मंदिरों की सामग्री का पुनः प्रयोग किया गया है (टूटे मंदिरों की अवशेष सामग्री के फेरबदल का यह प्रयोग लगभग एक शताब्दी तक जारी रहा)। इस काल में नई संरचनाओं ने स्थानीय स्तर पर उपलब्ध निर्माण तकनीकों को ग्रहण किया तथा अधिकांशतः नए संरचनात्मक ढाँचों पर ध्यान केंद्रित किया। जैस-जैसे निर्माण पद्धतियों में सुधार हुआ, मस्जिदें, मक़बरे और अन्य स्मारकों की योजना और निर्माण ताज़ी उत्खनित सामग्री से किया जाने लगा। इनको तुर्क शासकों की इच्छानुरूप और परिवर्तित डिज़ाइन/अभिकल्पना की आवश्यकता के मुताबिक़ विनिर्मित और अलंकृत किया गया। यही कारण है कि 'प्रथम चरण' की इमारतों में स्थानीय शिल्पकार के हाथ के काम की स्पष्ट झलक मिलती है। कदलिकाकृत-टोडा तकनीक

(corbelled technique) का प्रयोग कर बनाए गए नुकीले S-आकार (pointed ogee shaped) के दोहरे वक्र वाले *मेहराब* हर जगह नज़र आते हैं। अंतरालों को टोडे के ऊपर क्षैतिज शहतीर रखकर स्तम्भ तथा धरनी तकनीक (post-and-beam method) से पाटा जाता था। अंतरालों को पाटने की 'वैज्ञानिक तरीके से बनाई गई *मेहराब*' की नई वास्तु तकनीक को 13वीं शताब्दी में ख़लजी वंश के दौरान ही अपनाया गया था। वास्तुकला के इस नए तत्व अर्थात् *मेहराब* ने ईंट/पत्थर जोड़ने की नई सामग्री, चूना-पत्थर (लाइम मोर्टार; lime-mortar) के प्रयोग को आवश्यक बना दिया, जिसका अब तक भारत में विरले ही इस्तेमाल होता था। जब एक बार *मेहराब* बनाने में महारत हासिल कर ली गई, तो यह अर्द्ध-गोलाकार गुंबदों के निर्माण की ओर एक कदम ही था।

भारत में शुरुआती मस्जिदें, सामान्यतः, परंपरागत शैली के अनुरूप ही बनाई जाती थीं: ऐसी योजना जिसमें स्तंभों के ऊपर टिकी हुई एक छत होती थी, एक बड़ा सा खुला आँगन होता था, जो चारों ओर से एक स्तंभों पर टिकी हुई छत वाले गलियारे से घिरा होता था। काबा की दिशा (भारत में पश्चिम की ओर) की ओर मुख वाला एक नमाज़ कक्ष, जो अन्य तीनों से अधिक गहरा होता था। काबे की ओर मुँह वाली *क़िबला* की दीवार के बीच में *मेहराब* के रूप में एक ताक़ होता था, जो नमाज़ की दिशा को बताता था। कुव्वतुल इस्लाम मस्जिद, जो भारत में तुर्क शासकों की पहली मस्जिद थी, एक सदी तक मूल मस्जिद संरचना बनी रही। कुतबुद्दीन ऐबक के अधिकतर उत्तराधिकारियों ने संरचना निर्माण की अपनी महत्वाकांक्षा को इस मस्जिद पर केंद्रित रखा, इसकी मौलिक योजना में कुछ जोड़कर या विभिन्न प्रकार के सममितीय विस्तार द्वारा। महरौली से राजधानी परिवर्तन के बाद ही शासकों ने अपने संसाधनों और ध्यान को नई मस्जिदों की तरफ समर्पित किया। अन्य मस्जिद, अजमेर की अढ़ाई दिन का झोपड़ा अपनी शुरुआत से ही अलग-थलग पड़ी रही।

चित्र 17.13: कुव्वत-उल इस्लाम मस्जिद, दिल्ली

ख़लजी काल में वास्तुकला, जो निज़ामुद्दीन, दिल्ली में स्थित जमात ख़ाना मस्जिद (निर्माण 1325) में नज़र आती है, शैलीगत के परिवर्तन की ओर संकेत करती है। हिंद-इस्लामी वास्तुकला के विकास में यह चरण महत्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि इसमें सेल्जुक़ (11-13 सदी के बीच मध्य एशिया और एशिया माइनर के क्षेत्र पर शासन करने वाली एक तुर्क जनजाति) वास्तुकला की परंपरा का विशेष प्रभाव, और साथ ही ऐसे विशेष संरचनात्मक लक्षण नज़र आते हैं, जो कालांतर में अपनाई जाने वाली शैलियों में प्रदर्शित होते हैं। इस चरण की चारित्रिक विशेषताओं को निम्नलिखित ढंग से सूचीबद्ध किया जा सकता है:

a) वैज्ञानिक तरीके से बनाई गई मेहराब का प्रयोग, आकार में नुकीली, घोड़े की नाल नुमा,

b) **बगली डाट** (**squinch**) के अंतर्गत अंतराल-युक्त आलेदार *मेहराबों* के साथ वैज्ञानिक तरीके से बनाए गए गुंबदों का उदय,

c) नई भवन निर्माण सामग्री के रूप में लाल बलुआ पत्थर और सुसज्जित नक्काशीदार संगमरमर का प्रयोग,

d) मेहराब की निचली सतह पर कमल कली की झालर का प्रयोग, एक सेल्जुक़ विशेषता।

चित्र 17.14: जमात खाना मस्जिद, निज़ामुद्दीन, दिल्ली

यहाँ वास्तुकला की इन नई तकनीकों और अन्य विशेषताओं का विस्तृत विवरण आवश्यक है।

नए संरचनात्मक रूप

हम अपने अध्ययन का आरंभ विशिष्ट 'नवीन' शैली के पर्यवेक्षण के साथ करते हैं – जिसके कारण 13वीं शताब्दी में पक्के भवनों के निर्माण में विशिष्ट वृद्धि हुई। संभवतः भवन निर्माण में प्रयुक्त चूना-गारा के सीमेंट के रूप में प्रयोग ने भवनों को बेहतर जीवंतता तथा स्थायित्व प्रदान किया। यह कैसे हुआ तथा कौन से नए रचनात्मक रूपों ने भवनों को जीवंतता तथा स्थायित्य प्रदान किया इन सबकी हमारे द्वारा आगे के विवरण में विस्तृत व्याख्या की जाएगी।

i) *मेहराब* और गुम्बद

1865-1877 के मध्य भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा तैयार की गई रिपोर्ट का गहन अध्ययन करने से पता चलता है कि उत्तर भारत में 13वीं शताब्दी के बाद पक्की इमारतों – जिसमें नगरों में स्थित नागरिक भवन भी शामिल हैं – में तीव्र गति से वृद्धि हुई। इसका मुख्य कारण भवनों में चूना-गारा का सीमेंट के रूप में प्रयोग होना तथा नवीन संरचनात्मक रूप अर्थात् *मेहराब* का प्रयोग था। इसके अतिरिक्त, *मेहराब* के विस्तृत रूप, गुंबद (dome), का प्रयोग भी भवनों की छतों को बनाने के लिए भवन निर्माण शैली के रूप में किया गया। और जैसा कि पुरातत्व सर्वेक्षण रिपोर्ट में वर्णित किया गया है इन नवीन तकनीकियों ने अधिक स्थायित्व और इस प्रकार भवनों को दीर्घायु प्रदान की। अंतः हिंद-इस्लामी वास्तुकला के विकास को सही रूप में समझने के लिए हमारे लिए यह महत्वपूर्ण है कि हम स्पष्ट रूप से इन तकनीकियों और वास्तुकला रूपों को विस्तृत रूप से समझें।

यह ध्यान देने योग्य है कि नवीन चूना-गारा सीमेंट का प्रयोग और नवीन रचनात्मक रूप एक समकालिक प्रक्रिया थी जो कि एक-दूसरे की संपूरक थी। आइए चलें हम दोनों विशिष्ट लक्षणों का विस्तृत विश्लेषण करें। वैज्ञानिक तरीके से *मेहराबों* को बनाने के लिए वक्राकार डाट-पत्थर (vous-soirs) के रूप में ईंटों को लगाने की अवाश्यकता पड़ती है जिन्हें एक-दूसरे से जोड़ने के लिए अच्छे सीमेंट पदार्थ की आवश्यकता होती है। यह अच्छा जोड़ने वाला पदार्थ चूना-गारा था (**चित्र 17.15**)।

इस नई तकनीक के परिणामस्वरूप तुर्कों से पूर्व प्रचलित शैलियाँ – **स्तंभ और धरनी** (**lintel-and-beam**) और **कदलिकाकृत** (**corbelling**) का स्थान वैज्ञानिक तरीके से बनी *मेहराबों* (**arches**) और छतों (**vaults**) ने ले लिया। इसी प्रकार, तुर्कों से पूर्व के काल में प्रयुक्त शिखरों (**spired roofs**) का स्थान गुंबदों (**domes**) ने ले लिया। *मेहराबों* को विभिन्न आकारों में बनाया जाता है लेकिन भारत में इस्लामी दुनिया में प्रचलित नुकीले रूप को

प्रत्यक्षतः ग्रहण किया गया। और 14वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में नुकीले आकार की *मेहराबों* का दूसरा रूप, चार कोने वाली *मेहराब*, तुगलक सुल्तानों द्वारा अपने भवनों में प्रयुक्त की गई। यह रूप सल्तनत के अंत तक प्रचलित रहा (इन रूपों को **चित्र 17.16** में दर्शाया गया है)।

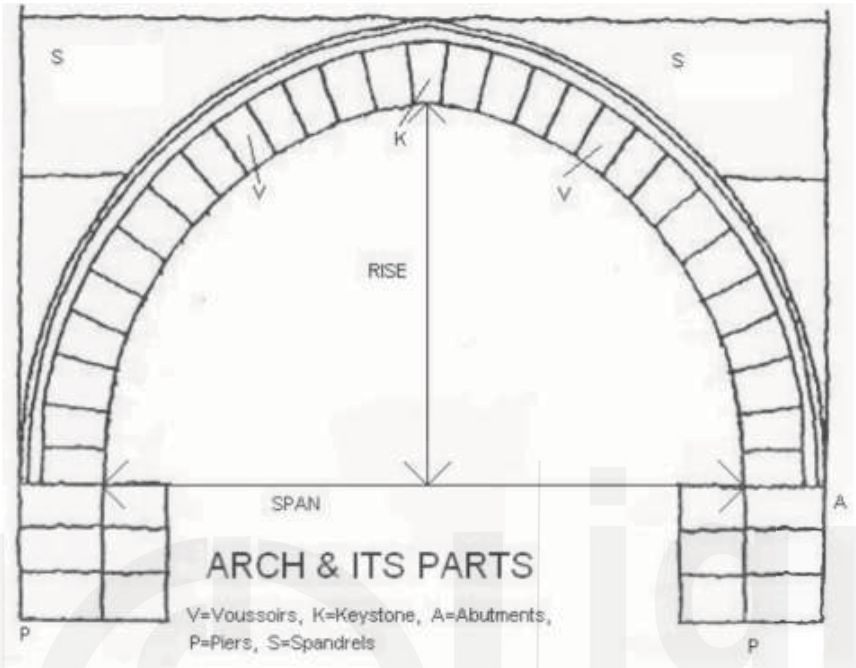

चित्र 17.15: *मेहराब*

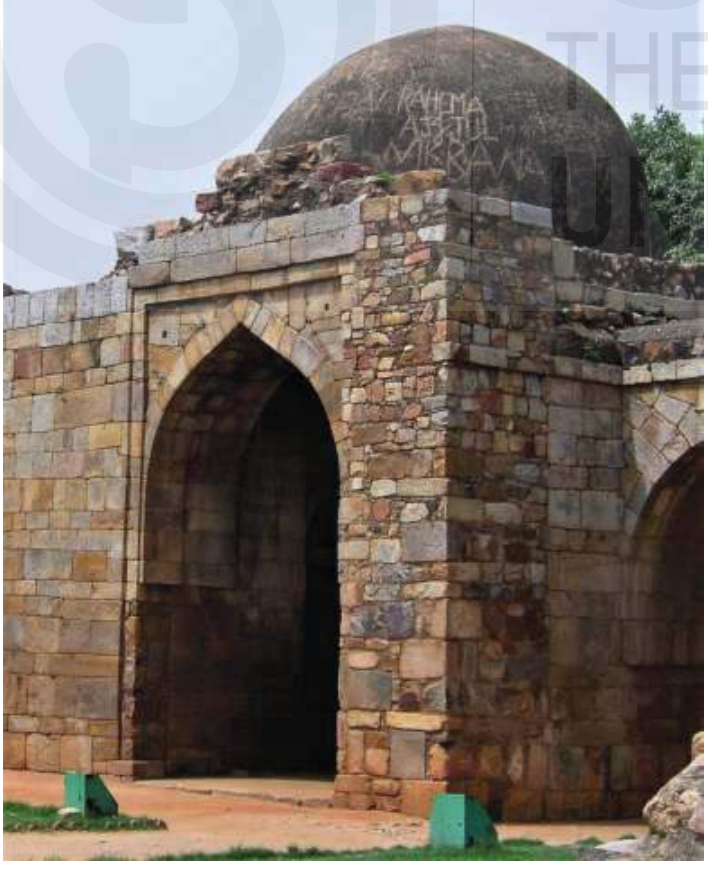

चित्र 17.16: नकीले आकार की *मेहराब*

इस्लामी दुनिया में नुकीली *मेहराबों* का प्रयोग इसके टिकाऊपन और निर्माण की आसानी की वजह से पहले ही अपनाया गया था। नुकीली *मेहराब* बनाने का सामान्य तरीका था केन्द्र में कम वजन और इसके ऊपर ईंट की एक परत लगाना। यह परत दूसरी चपटी ईंटों की पतली परत को आधार प्रदान करती थी जिस पर *मेहराब* के विकरणी डाट-पत्थरों (**radiating voissoirs**) को गारे से जमाया जाता था। ये ईंट की दोहरी परतें आवश्यकता पड़ने पर *मेहराब* के लिए स्थायी कवच का काम करती थीं (**चित्र 17.17**)। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि लकड़ी के आधार की जगह ईंटों का प्रयोग उन क्षेत्रों की मुख्य विशेषता थी, जहाँ लकड़ी की कमी थी जैसे – पश्चिमी एशिया और भारत।

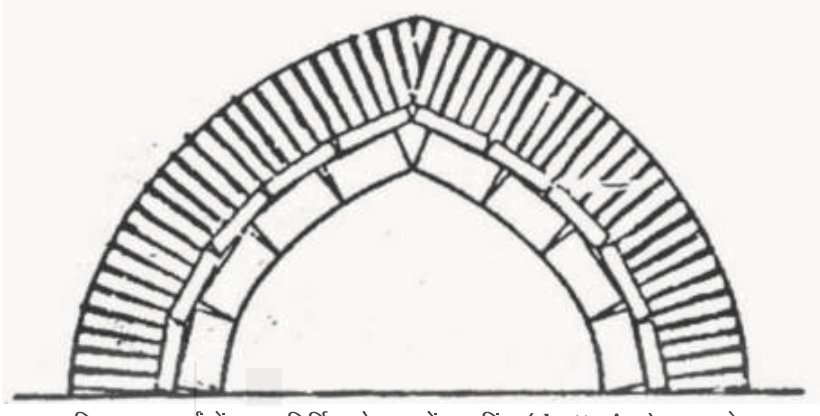

चित्र 17.17: ईंटों द्वारा निर्मित *मेहराब* में शटरिंग (**shuttering**) का प्रयोग

लेकिन गुम्बदों के निर्माण के लिए विशेष तकनीक की आवश्यकता थी। समस्या एक ऐसे उपयुक्त तरीके की थी जो गोलाकार गुम्बद के निर्माण के लिए कमरे की वर्गाकार अथवा आयताकार दीवारों को गोलाकार गुम्बद के रूप में परिवर्तित कर सके। इस समस्या से मुक्ति का सबसे सही उपाय था कि एक छोर से दूसरे छोर तक वर्गाकार विन्यास को बगली डाट (squinches) की मदद से बहुभुजीय योजना में बदल दिया जाए जैसा कि **चित्र 17.18** में दिखया गया है । बाद में पंद्रहवीं शताब्दी में आरोही-निक्षेपों (stalactite pendentives) को इस उद्देश्य के लिए प्रयोग में लाया गया। उदाहरण के लिए, बड़ा गुम्बद मस्जिद, नई दिल्ली।

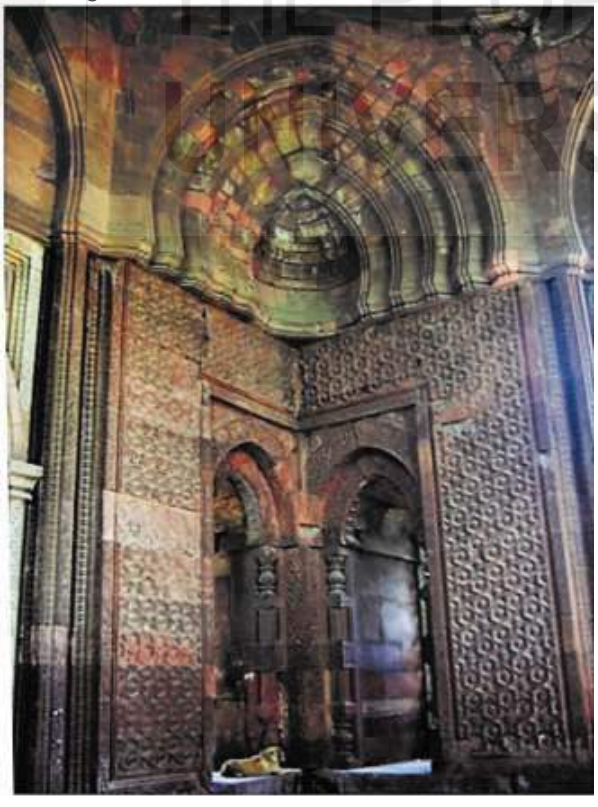

चित्र 17.18: बगली डाट (**Squinches**)

चित्र 17.19: आरोही-निक्षेप (Pendentives)

ii) भवन-निर्माण सामग्री (Building Material)

यह जानने योग्य तथ्य है कि भारत में प्रांरभिक तुर्की भवनों में बहुत कम ऐसे उदाहरण हैं जिनमें वास्तुकारों द्वारा खान से निकाले हुए नए पदार्थों का प्रयोग किया गया हो। उस समय तुर्की काल से पूर्व के भवनों में प्रयुक्त नक्काशीदार लाटों, स्तम्भों, मीनारों (shafts), तख्तों (lintels), आदि के प्रयोग का आम प्रचलन था। भारत में चौदहवीं शताब्दी के प्रारंभ में जब ऐसी सामग्री की आपूर्ति में कमी हो गई तो खान से निकाले हुए अथवा स्वयं निर्मित सामग्री के द्वारा भवन-निर्माण किया गया।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि अपनी मजबूती के कारण पक्की इमारतों में पत्थरों का प्रयोग बहुतायत से हुआ। नींव खुरदरे और छोटे कंकड़ों से भरी गई अथवा उपलब्धता के अनुसार नदियों के चिकने पत्थरों का प्रयोग किया गया; जबकि भवनों के ऊपरी ढाँचे बनाने में अच्छे पत्थरों या ऊबड़-खाबड़ आकार वाले पत्थरों का इस्तेमाल हुआ। हालांकि दोनों ही तरीकों में समस्त भवन अच्छी तरह से प्लास्टर किये गये। पर्सी ब्राउन (1942) ने लिखा है कि खलजी कालीन भवनों में पत्थरों को जोड़ने के लिए एक नए तरीके का प्रयोग किया गया। इसमें पत्थरों को दो तरह से लगाया गया – शीर्ष (headers) और फैलाव (stretchers) विधि से। इस शैली का प्रयोग आगामी भवनों में भी किया गया और यह शैली मुगलों की भवन-निर्माण तकनीक की विशेषता बनी।

भवनों को प्लास्टर करने में प्रायः खड़िया (जिप्सम) का प्रयोग किया गया। चूने के प्लास्टर का प्रयोग पानी रिसने वाली जगहों के लिए सुरक्षित रखा गया, जैसे, छतें, नील बनाने के लिए हौज (indigo-vats), नहरें, नालियाँ, इत्यादि। बाद में लगभग पंद्रहवीं शताब्दी के आसपास जब गचकारी का कार्य (stucco work) आम प्रचलन में आ चुका था तो दीवारों और छतों के प्लास्टर के लिए खड़िया मिट्टी के गारे को वरीयता दी गई।

iii) साज-सज्जा

इस्लामी भवनों में साज-सज्जा की कला ने इमारत की विशेषताओं को प्रदर्शित करने के बजाय उसे छुपा दिया। चूँकि प्राणियों के चित्रण को हतोत्साहित किया जाता था, अधिकतर मामलों में सजावट के तत्व (क) सुलेख (calligraphy), (ख) ज्यामिती, और (ग) फूल-पत्तियों या बेलबूटों तक ही सीमित थे।

फिर भी, इनके दक्षतापूर्ण प्रयोग द्वारा सल्तनत कालीन भवनों ने एक राजसी और वैभवशाली आभा प्राप्त की। लेकिन किसी भवन के लिए विशेष प्रकार की सज्जा निश्चित नहीं थी। इसके विपरीत दिल्ली सल्तनत के समस्त भवनों में इस्लामी सजावट के तरीकों का प्रयोग किया गया था।

इस समय के भवनों में साज-सज्जा की कला में सुलेखन का एक महत्वपूर्ण स्थान था। कुरान की आयतें भवनों पर सीधी, सौम्य, भाषा के रूप में कूफ़ी लिपि में खुदी हैं। ये लेखन भवनों के किसी

भी भाग में जैसे, दरवाजे, छत, चौखट, ताख, आदि में पाया जा सकता है और विविध प्रकार के रूपों जैसे, पत्थर, गचकारी और चित्रकला में देखा जा सकता है।

चित्र 17.20: इस्लामिक सुलेखन

इन भवनों में ज्यामितीय आकारों का प्रयोग बड़े ही अमूर्त रूप में विभिन्न सम्मिश्रणों में किया गया है। इनके डिजाइनों में दृष्टिगत तत्वों जैसे, पुनरावृत्ति, एकरूपता एवं नमूनों की सातत्यता के निर्माण का समावेश है। डालू जोन्स (मिशेल, 1978) ने सुझाव दिया है कि वृत्त इस ज्यामिति-कला की उत्पत्ति का मूल है जिसे वर्गाकार, त्रिकोण या बहुकोण के रूप में विकसित किया जा सकता है। इसको बढ़ा-घटाकर पुनरावृत्ति और एकरूपता के द्वारा और आगे विस्तृत किया जा सकता है।

चित्र 17.21: ज्यामितीय साज-सज्जा

पत्रण कला (foliations) द्वारा सजावट का प्रमुख तरीका *अरबेस्क* था जो सल्तनत कालीन भवनों में प्रमुख रूप से प्रयुक्त हुआ है। इसको एक अनवरत तने के रूप में जाना जाता है, जो बराबर विभाजित होते रहते हैं और जिससे अनेक दूसरे पत्ती वाले तने विकसित होते रहते हैं जो पुनः विभाजित हो सकते हैं अथवा मुख्य तने से दोबारा जुड़ जाते हैं। इस नमूने की पुनरावृत्ति त्रि-आयामी प्रभाव के साथ एक सुन्दर संतुलित नमूने को जन्म देती है।

चित्र 17.22: अरबेस्क्

अब हम अपने मस्जिदों के विवरण की तरफ वापस लौटते हैं। तुग़लक़ काल की मस्जिदों में नई वास्तुकला की शैली प्रचलन में आती है। तुग़लक़ वास्तुकला की शैली की सामान्य विशेषताएँ नीचे सूचीबद्ध हैं:

क) मुख्य भवन निर्माण सामग्री खुरदुरे पत्थर (कंकड़) थी और अधिकांश दीवारें प्लास्टर की हुई होती थीं।

ख) दीवारें एवं बुर्ज अधिकतर अंदर की तरफ झुके हुए होते थे। इसे कोनों पर प्रखर रूप से देखा जा सकता है।

ग) चार कोनों वाली नई *मेहराब* के सीमित और शायद प्रयोगात्मक प्रयोग ने इसके आधार के लिए धरनी की आवश्यकता को आवश्यक बनाया। इस तरह की *मेहराब*-धरनी (arch-beam) का सम्मिश्रण तुगलक शैली की मुख्य विशेषता थी। नुकीली घोड़े की नालनुमा *मेहराब* की प्रचलित शैली को इसकी संकीर्ण परिधि तथा अधिक जगह घेरने की अयोग्यता के कारण उपयोग में लाना बंद कर दिया गया।

14वीं शताब्दी में मुहम्मद बिन तुग़लक़ के शासन के दौरान एक नई, कुछ हद तक उन्नत, योजना को अपनाया गया। जहां बेगमपुर मस्जिद को स्तंभ युक्त छत (hypostyle) की योजना के साथ बनाया गया है, इसमें ईरानी क़िस्म के चार *इवान* भी निर्मित हैं, प्रत्येक ओर के आँगन के केंद्र में एक-एक *इवान*। अन्य मस्जिदों को भी भिन्न-भिन्न योजना के साथ निर्मित किया गया है। उदाहरण के लिए, फ़िरोज़ शाह तुगलक के काल में निर्मित मस्जिदों के समूह के अवशेष, जिनका निर्माण उसके *वज़ीर* ख़ान जहाँ ने करवाया था। सभी मस्जिदों में आँगन के चारों ओर ऊँची दीवारें, आंतरिक हिस्से में *मेहराबों* के छतदार गलियारे और काफ़ी संख्या में छोटे गुंबद बने हुए हैं। किसी में भी मीनारें नहीं हैं। पत्थर का काम बहुत ही अपरिष्कृत और बिना किसी सजावट के है, उस पर केवल प्लास्टर की एक परत चढ़ी हुई है। सभी में '*मेहराब* और शहतीर' वाले प्रवेशद्वार हैं। *मेहराबदार* आंतरिक आच्छादित पथ, गुंबद वाली छतों से युक्त वर्गाकार कक्षों से मिलकर बना है।

दो भिन्न संरक्षकों के लिए निर्मित दो मस्जिदें, मस्जिद के एक अन्य प्रकार को प्रदर्शित करती हैं, दो-मंजिला चबूतरे वाली मस्जिद, *मेहराबों* के ढांचे पर खड़ी हुई, जहां ऊपरी मंजिल पर उपासना

की जाती थी। कोटला फ़िरोज़शाह में स्थित आधी ध्वंस हो चुकी मस्जिद के अलावा कलाँ मस्जिद में भी इसी योजना को अपनाया गया है। तुग़लक़ मस्जिदों का एक तीसरा प्रारूप, क्रॉस के आकार या क्रॉस-धुरी की योजना में निर्मित है जो एक प्रभावी, अल्पजीवी नवीनता को अभिव्यक्त करती है। इस प्रारूप का सबसे पहला उदाहरण खिड़की मस्जिद है, जहाँपनाह के दक्षिण-पूर्वी हिस्से में स्थित एक विशाल स्मारक। निज़ामुद्दीन दरगाह में स्थित 1370-77 में निर्मित एक अन्य मस्जिद, काली मस्जिद, इस श्रृंखला को पूर्णता प्रदान करती है।

चित्र 17.23: खिड़की मस्जिद, दिल्ली

अंत में, गुलबर्गा में 1367 में विकसित एक अपरंपरागत योजना का उल्लेख भी विशिष्ट होगा, जहाँ जामी मस्जिद मे कोई भी आँगन नहीं है तथा संपूर्ण संरचना गुम्बदों की एक श्रृंखला द्वारा ढकी हुई है, मध्य भाग के ऊपर 63 गुंबद तथा किनारों पर मध्यम आकार के 4 गुंबद, तथा *मिहराब* (*क़िबला* वाली दीवार पर बना ताक़) के ऊपर, खिड़की-युक्त वर्गाकार (square clerestory) दीवार पर लंबा-चौड़ा गुंबद है। यद्यपि गुलबर्गा मस्जिद की योजना को अंततः ख़ारिज कर दिया गया, किंतु इसकी कुछ नवीनताओं को दिल्ली, बीदर और बीजापुर की मस्जिदों में अपनाया गया है।

चित्र 17.24: जामी मस्जिद, गुलबर्गा

बोध प्रश्न-2

1) नीचे दिए गए स्थान पर मस्जिदों के संरचनात्मक स्वरूप के विषय में लिखिए।

.....

.....

.....

2) तेरहवीं शताब्दी के दौरान भारत में प्रचलन में आई प्रमुख संरचनात्मक और अलंकरण तकनीकों के विषय में लिखिए।

.....

.....

.....

3) तुग़लक़ों के अधीन मस्जिद की संरचना में होने वाले मुख्य परिवर्तनों की विवेचना कीजिए।

.....

.....

.....

17.6 *दरगाह* : सामाजिक संदर्भ और अभिप्राय

सूफ़ीवाद इस्लामी रहस्यवाद है और 10वीं शताब्दी से ही यह ईश्वर से निजी संवाद के इच्छुक मनुष्यों को रूढ़िवादी इस्लाम के कठोर नियमों से दूर ले जाता रहा है। शुरुआती दौर से ही सूफ़ी विशेष आध्यात्मिक आभा रखने वाले संतों के इर्द-गिर्द एकत्र होकर धार्मिक *सिलसिलों* की स्थापना करते रहे हैं। सूफ़ी *सिलसिले* अनेक हैं, सभी के नाम तथा रीतियों में भिन्नता है, किंतु सभी किसी मार्गदर्शक या पीर के प्रति समर्पण की आवश्यकता के सम्बंध में एकमत हैं। जिन *सिलसिलों* ने भारत में सूफ़ी मत का प्रचलन किया, उनका लम्बा इतिहास रहा है। शुरुआती सूफ़ी धर्मप्रचारक खैबर दर्रे के ज़रिए पहले-पहल आने वाली सेनाओं के साथ आए थे। वे आमजन और उनके शासकों के बीच जल्दी ही लोकप्रिय हो गए, दरबार में, अक्सर आध्यात्मिक और राजनीतिक मार्गदर्शक, दोनों की ही भूमिका में।

हिंदुस्तान में सर्वाधिक पुराना सूफ़ी *सिलसिला* चिश्तिया है, जिसका समय 1142 है। सीस्तान के ख़्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती बारहवीं सदी के आख़िरी दशक में ग़ौरी आक्रमणकारियों के साथ भारत आए और राजस्थान के अजमेर में बस गए, जहाँ वे अपनी मृत्युपर्यंत, 1236, तक रहे। उनकी मज़ार अभी भी तीर्थयात्रियों के लिए श्रद्धेय है, जो प्रतिवर्ष उनके *उर्स*, वह उत्सव जो संत की पुण्यतिथि के अवसर पर मनाया जाता है, पर वहाँ आते हैं।

चित्र 17.25: अजमेर दरगाह

मोईनुद्दीन चिश्ती के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी भारत के सर्वाधिक प्रसिद्ध संतों में रहे हैं। महत्वपूर्ण चिश्ती संतों में शामिल हैं, ख़्वाजा कुतबुद्दीन बख़्तियार काकी, जिनकी मज़ार दिल्ली में कुतब मीनार के पास स्थित है; चिराग़-ए दिल्ली को भी दिल्ली में ही दफ़नाया गया है, और निज़ामुद्दीन औलिया की दरगाह भी दिल्ली में है, जो उनके नाम से ख्यात है।

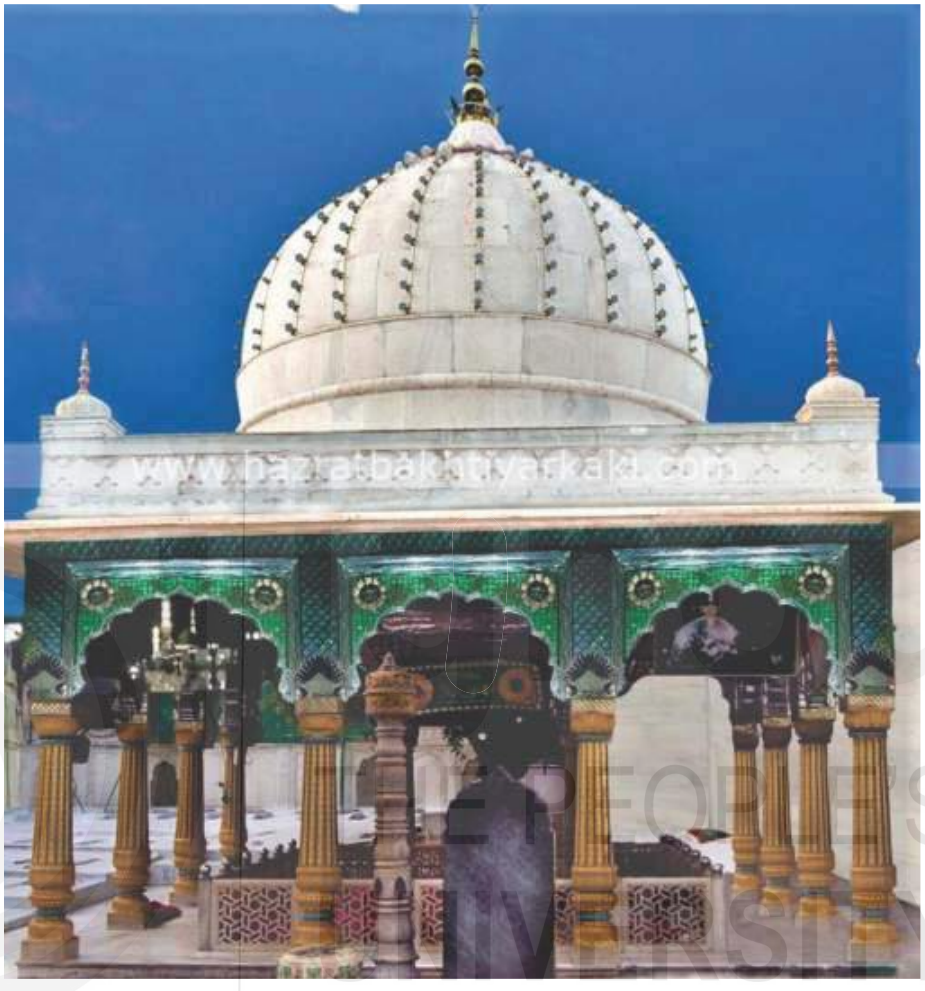

चित्र 17.26: *दरगाह* बख्तियार काकी

चित्र 17.27: *दरगाह* चिराग दिल्ली

अतः यह स्पष्ट है कि *दरगाह* वह स्थान है जहाँ सूफ़ी संत को एक अहाते में दफ़नाया जाता है। *दरगाह* बाद के समय में एक तीर्थ के रूप में उभर कर आती है, जहाँ संतों के अनुयायी तीर्थ करने आते हैं, ख़ासकर उनकी पुण्यतिथि के अवसर पर। सूफ़ी शेखों के आध्यात्मिक उत्तराधिकारियों और मुरीदों को उनके पीर के निकट ही दफ़नाया जाता है, जिससे हम अक्सर सूफ़ी संतों की मज़ार के निकट अन्य मज़ारों और क़ब्रों का एक समूह पाते हैं।

इमारतें अक्सर बहुत सघन रूप से आसपास बनी हुई होती हैं और व्यक्तिगत स्मारक का पता लगाना बड़ा मुश्किल हो जाता है। एक-दूसरे के निकट अलग-अलग शैली देखने को मिलती है जो विभिन्न कालों से संबंधित हैं। सूफ़ी संत के अनुयायियों द्वारा प्रायः मूल *दरगाह* को आधुनिक शैली में नवीनीकृत किया जाता रहा है। जहाँ वास्तुकला के अच्छे उदाहरण भी मौजूद हैं, जैसे निज़ामुद्दीन औलिया की *दरगाह* दिल्ली में स्थित जमात ख़ाना मस्जिद, लेकिन यह अक्सर आसपास की इमारतों से ढक जाते हैं।

यह भी कहना होगा कि बहुत से शासकों और दरबारियों की क़ब्रें *दरगाह* के आसपास बिखरी हुई हैं; और अन्य बहुत सारी साधारण सी कब्रें भी, सामान्यतः जिनको पहचाना नहीं जा सकता है, *दरगाह* में नज़र आने वाले परिदृश्य का निर्माण करती हैं। निज़ामुद्दीन औलिया की *दरगाह* भारत में सबसे विख्यात मज़ारों में से एक हैं। निज़ामुद्दीन का जीवन काल काफी लंबा रहा है, बलबन के शासनकाल से मुहम्मद तुग़लक़ के प्रथम वर्ष (1324) तक। अलाउद्दीन ख़लजी द्वारा निर्मित जमात खाना मस्जिद इस *दरगाह* में स्थित प्राचीतम संरचना है। संत का अलंकृत मक़बरा काफ़ी बाद के समय का है। *दरगाह* परिसर में कुछ विख्यात ऐतिहासिक व्यक्तित्वों – कवि अमीर खुसरो, जो निज़ामुद्दीन औलिया के समकालीन थे, जहाँआरा बेगम, शाहजहाँ की पुत्री और मुगल बादशाह अकबर द्वितीय के पुत्र जहाँगीर की क़ब्रें भी हैं।

17.7 *दरगाहों* के पैटर्न और स्वरूप

हिंदुस्तान के हर कोने में *दरगाहें* पाई जाती हैं, अधिकतर आबादी वाले क्षेत्रों में और कभी-कभी शहर की सीमा के पार उपनगरीय क्षेत्रों में भी। इनमें से कुछ, संतों की मज़ार की परिधि में बनी हुई हैं, जैसे एक स्थानीय मुस्लिम संत शाह आलम की *दरगाह* जो दिल्ली पहाड़ी क्षेत्र (ridge) के उत्तरी छोर पर वज़ीराबाद में स्थित है। फ़िरोज शाह तुगलक के समय का एक प्रवेशद्वार, एक प्रांगण, एक मज़ार और एक पुल (ब्रिज) यहाँ निर्मित है। 14वीं शताब्दी के आख़िरी वक़्त में वज़ीराबाद एक महत्वपूर्ण उपनगर था। शाह आलम कोई विख्यात संत नहीं थे और यही कारण था कि किसी शासक या दरबारियों ने इस संत की मज़ार के पास दफ़नाया जाना पसंद नहीं किया। इस तरह यह दरगाह अन्य विख्यात *दरगाहों* की तरह बाद में जोड़ी गई संरचनाओं से पट नहीं गई है, जैसे कि निज़ामुद्दीन औलिया की *दरगाह*। शाह आलम का मकबरा और मस्जिद अपने मूलभूत स्वरूप में खड़े हैं, लगभग पूरे एकांत में, जो लगभग भुला दिए गए एक स्मारक का दिलचस्प उदाहरण है।

चित्र 17.28: शाह आलम की दरगाह और पुल (ब्रिज), दिल्ली

"पवित्र संत की मजार के इर्द-गिर्द बसा एक अन्य उपनगर उस स्थान से दक्षिण में था, जहाँ आज लाहौर गेट स्थित है। यहाँ फ़िरोज़ शाह तुग़लक़ ने क़दम शरीफ़, जिसे पवित्र पदचिह्न के रूप में जाना जाता था, के लिए एक पवित्र अहाते का निर्माण (1374) करवाया था, अपने सबसे बड़े पुत्र फ़तेह ख़ान की मृत्यु के बाद उसके अंतिम विश्राम के लिए। यह मकबरा चारों ओर से एक दीवार से घिरा हुआ है, सम्भवतः मंगोलों के हमले से रक्षा के लिए क्योंकि यह मज़ार फ़िरोज़ाबाद नगर की दीवारों के बाहर स्थित थी। शहज़ादे की कब्र, जिसके ऊपर रखी पानी की नाद (trough) में बगदाद के ख़लीफ़ा द्वारा फ़िरोज़ शाह तुग़लक़ को भिजवाए गए क़दम शरीफ़ को रखा गया था, के चारों ओर निर्मित इस चापाकार/*मेहराबदार* अहाते में दो प्रवेश द्वार थे।"

"एक तीसरा उपनगर जहाँपनाह की सीमा के अंदर नष्ट हो चुके सीरी शहर के दक्षिण पूर्व में, रोशन चिराग-ए दिल्ली, निज़ामुद्दीन औलिया के शिष्य, जिनकी मृत्यु फ़िरोज़ शाह तुग़लक़ के शासनकाल में, 1356 में हुई, की *दरगाह* के चारों ओर बसा था। आधुनिक रूप ले चुके इस मकबरे में एक अभिलेख उत्कीर्ण है जिसमें लिखा गया है कि सुल्तान फ़िरोज़ ने 1373 में इसके पूर्वी दरवाजे का निर्माण करवाया था।"

"1373 की तारीख़ वाला एक अन्य अभिलेख ख़्वाजा बख़्तियार काकी की *दरगाह* के दक्षिण में मिर्ज़ा क़ाज़ी हमीदुद्दीन नागौरी के मकबरे के निर्माण का जिक्र करता है, जिससे संकेत मिलता है कि कुतब परिसर के दक्षिण में इस संत की *दरगाह* के इर्द-गिर्द एक छोटा उपनगर आबाद रहा होगा" (मर्कलिंगर 2005: 40-41).

बोध प्रश्न-3

1) नीचे दिए गए स्थान पर *दरगाह* की उत्पत्ति और उनकी प्रकृति के विषय में लिखिए।

.....

.....

.....

2) उपर्युक्त खंड में वर्णित किसी एक *दरगाह* की विशेषताओं पर चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

17.8 सारांश

1191-92 में, भारत में तुर्क शासन की स्थापना के साथ सामाजिक और सांस्कृतिक परिदृश्य में महत्वपूर्ण बदलाव आए, वैसे ही जैसे राजनीतिक क्षेत्र में। सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य में नए धर्म का आविर्भाव और उससे संबंधित वास्तुकला की तकनीकों का प्रचलन हुआ। अन्य महत्वपूर्ण बदलाव वास्तुकला की नवीन तकनीकों का आगमन था, जो नई वास्तुकला की संरचनाओं, मस्जिद और अन्य उपयोगी इमारतों, के अनुरूप अधिक सटीक थीं। प्रारंभिक चरण में, जो लगभग एक शताब्दी तक चला, यह अंतःक्रिया मुख्यतः इमारतों के बाहरी स्वरूप में ही नई तकनीकों – *मेहराब* और *गुंबद* – के प्रदर्शन तक ही सीमित थी। इसका कारण राजगीर और कामगारों का नई तकनीकों से अनभिज्ञ होना था। बहरहाल, परिणामस्वरूप अस्तित्व में आए नवीन वास्तुशिल्प ने सौंदर्यबोध की दृष्टि से संतुष्टिदायक और प्रभावकारी संरचनाएँ निर्मित कीं। मस्जिदें अब परिदृश्य में नज़र आने लगी थीं। वक़्त गुज़रने के साथ-साथ शिल्पकारों ने नई तकनीक में दक्षता हासिल की और बहुत ही सुंदरता से स्थानीय तत्वों को सम्मिश्रित कर कई दिलचस्प मिश्रित ढंग की संरचनाओं को आकार दिया। मंदिरों की संरचना इस नए प्रभाव से लगभग अछूती ही रही। हमारे अध्ययन काल के दौरान मंदिरों की संरचनाओं ने इन नई तकनीकों के साथ विरले ही कोई प्रयोग किया। इस काल ने *दरगाह* के रूप में पहचाने जाने वाली एक अन्य प्रकार की सामाजिक-सांस्कृतिक समष्टि के आविर्भाव को भी देखा लेकिन शीघ्र ही, *दरगाह* ने एक अधिक समन्वयात्मक रूप ले लिया और यह सूफ़ी *सिलसिले* विशेष पर केंद्रित धार्मिक सभा/संगत का स्थान बन गया।

17.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 17.2

2) देखें भाग 17.3

3) देखें भाग 17.3

बोध प्रश्न-2

1) देखें भाग 17.4

2) देखें भाग 17.5

3) देखें भाग 17.5

बोध प्रश्न-3

1) देखें भाग 17.6

2) देखें भाग 17.7

17.10 शब्दावली

अरबेस्क	यह शब्द कृत्रिम फूल-पत्तियों के अलंकरण की ओर संकेत करता है, लेकिन इसमें अन्य अलंकरण, ज्यामितिक, सुलेखन तथा आकृतिनुमा सजावट भी शामिल हैं
दरगाह	किसी संत की मज़ार या मुस्लिम उपासना स्थल
इवान	*मेहराबदार* कक्ष जो एक ओर से आँगन की तरफ़ खुलता है
मक़सूरा	घेरा जो मस्जिद में शासक को सुरक्षित करने हेतु बना होता था
मिहराब	मक्का की दिशा बताने वाला ताक
क़िबला	मस्जिद में नमाज़ की दिशा (भारत में पश्चिम)
सहन	मस्जिद का आँगन
बगली डाट (**Squinch**)	कोनों पर बनी हुई *मेहराब* ताकि गोल गुम्बद को वर्गाकार कोष्ठ में रखा जा सके
सूफ़ी	इस्लाम के आध्यात्मिक *सिलसिले* का सदस्य

17.11 संदर्भ ग्रंथ

बाशम, ए. एल., (1954) *वंडर दैट वाज़ इंडिया* (लंदनः विलियम कॉलिंस एंड कंपनी लिमिटेड).

ब्राउन, पर्सी, (1942) *इंडियन आर्कीटेक्चर इस्लामिक पीरियड* (बॉम्बेः डी. बी. तारापोरवाला संस एंड कंपनी).

बर्टन-पेज, जे., (2008) *इंडियन इस्लामिक आर्कीटेक्चर* (लाइडनः ब्रिल).

मर्कलिंगर, एलिजाबेथ स्कॉटेन, (2005) *सल्तनत आर्कीटेक्चर ऑफ प्री-मुगल इंडिया* (नई दिल्लीः मुंशीराम मनोहर लाल पब्लिशर्स).

मिशेल, जॉर्ज, (सं.) (1978) *आर्कीटेक्चर ऑफ द इस्लामिक वर्ल्डः इट्स हिस्ट्री एंड सोशल मीनिंग* (लंदनः टेम्स एवं हडसन).

मिशेल, जॉर्ज, (2015) *लेट टैम्पल आर्कीटेक्चर ऑफ इंडिया 15 टू 19 सेन्चुरीज़* (नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

नाथ, आर., (1978) *हिस्ट्री ऑफ सल्तनत आर्कीटेक्चर* (नई दिल्लीः अभिनव पब्लिकेशन्स).

17.12 शैक्षणिक वीडियो

आर्कीटेक्चर ऑफ द दिल्ली सल्तनत। सीईसी-यूजीसी

https://www.youtube.com/watch?v=cv2kz6UaB5E

द सूफ़ी कोर्टयार्ड हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया ऑफ दिल्ली

https://www.youtube.com/watch?v=TjnnfhbfyUA

इकाई 18 राजमहल, क़िले, मक़बरे, तथा सार्वजनिक निर्माणः स्वरूप, संदर्भ और अभिप्राय*

इकाई का रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 राजमहलः संदर्भ तथा स्वरूप

18.3 राजमहल की इमारतेंः 1200-1550

18.4 क़िलेः संदर्भ तथा संरचनात्मक स्वरूप

18.5 मक़बरेः सामाजिक संदर्भ और अभिप्राय

18.6 मक़बरों के पैटर्न और स्वरूप

18.7 सार्वजनिक निर्माण-कार्यः संदर्भ और स्वरूप

18.8 मुख्य सार्वजनिक निर्माण-कार्यः 1200-1550

18.9 सारांश

18.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

18.11 शब्दावली

18.12 संदर्भ ग्रंथ

18.13 शैक्षणिक वीडियो

18.0 उद्देश्य

इकाई 17 में आपने मध्यकालीन भारत (1200-1550) में सांस्कृतिक विकास के विषय में पढ़ा था, ख़ासकर इमारतों तथा उनके सामाजिक परिवेश के संदर्भ में। विस्तृत अध्ययन के लिए चुनी गई तीन विशेष क़िस्म की इमारतें थीं, मंदिर, मस्जिद और *दरगाह*। हम इमारतों के संदर्भ में इस परिचर्चा को और आगे बढ़ाते हुए इसमें चार अन्य प्रकार की इमारतों को भी शामिल कर रहे हैं जो मध्यकालीन भारत के सांस्कृतिक परिदृश्य का प्रतिनिधित्व करती हैं। ये चार प्रकार की इमारतें हैं – राजमहल, क़िले, मक़बरे और सार्वजनिक निर्माण-कार्य। यह ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है कि मक़बरा ऐसा विशेष संरचनात्मक प्रकार था जिसका प्रचलन भारत में तुर्क विजय के बाद ही हुआ, जबकि राजमहल, क़िले (दुर्ग) और सार्वजनिक निर्माण पहले से ही अस्तित्व में थे; और केवल उनकी शैली और बनावट में ही बदलाव आया जो मध्यकाल में प्रचलन में आए नए संरचनात्मक स्वरूपों और नई तकनीकों का परिणाम था। इस इकाई का अध्ययन आपके लिए सहायक होगाः

- इमारतों के वास्तुकलात्मक स्वरूप को समझने में,
- इमारतों के सामाजिक संदर्भ का मूल्यांकन करने में, और
- इमारतों के संरचनात्मक विकास-क्रम की समझ पैदा करने में।

18.1 प्रस्तावना

हम पहले ही **इकाई 17** में यह देख चुके हैं कि भारत में तेरहवीं शताब्दी अपने साथ कई महत्वपूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक बदलावों को लेकर आई। तुर्क शासन की स्थापना ने ऐसी इमारत निर्माण की तकनीकों और संरचनात्मक स्वरूपों को प्रचलित किया जो सामान्यतः यहाँ पहले प्रयुक्त नहीं होते

* प्रो. रविन्द्र कुमार, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

थे। इन 'नए' वास्तुकलात्मक स्वरूपों के प्रयोग ने ऐसी इमारतों को सृजित किया जो अपनी संरचना और वास्तुकलात्मक शैली में अब तक प्रचलित इमारतों के प्रकारों से भिन्न थीं और इन्होंने एक नए सामाजिक परिवेश को जन्म दिया जो अब तक प्रचलित रहे वास्तुकलात्मक परिदृश्य से भिन्न था। हमने **इकाई 17** में यह भी देखा कि 13वीं शताब्दी ने अब तक प्रचलित और 'नई' प्रकार की इमारतों और उनसे संबंधित वास्तुकलात्मक शैलियों के बीच एक अंतःक्रिया को जन्म दिया और यह भी कि यह प्रवृत्ति, कम से कम, आने वाली चार सदियों तक जारी रही। यह भी दोहराना होगा कि इस अंतःक्रिया ने तकनीकों, शैलियों, संरचनाओं और अलंकरणों का ऐसा आश्चर्यजनक मिश्रण पैदा किया जिसकी मिसाल अन्यत्र कहीं ढूँढ पाना दुर्लभ ही है। यह इकाई मुख्यतः 'नए' प्रकार की इमारत, मक़बरे की उत्पत्ति और इस नई क़िस्म की इमारतों के सामाजिक संदर्भ और उसमें निहित अभिप्रायों के साथ ही राजमहल, क़िले और सार्वजनिक लोक निर्माण के कार्य और उनकी संरचना और रूपरेखा से संबंध रखती है।

18.2 राजमहलः संदर्भ तथा स्वरूप

राजमहल विशिष्ट अनौपचारिक संरचना थे, और अक्सर एक छोटे शहर का सा खाक़ा लिए होते थे, बजाय कि निवासस्थान के रूप में चिह्नित एक सुगठित एकल संरचना के रूप में निर्मित होने के। इस प्रकार राजमहल एकल और सामूहिक रूप से निर्मित कई इमारतों का संयोजन होते थे। ये सामान्यतः किसी सममितीय ढाँचे का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं, जो इस काल की अन्य क़िस्म की इमारतों की अनोखी विशेषता है। उल्लेखनीय ढंग से इसके विपरीत, राजमहल बहुरूपीय आकार-प्रकार वाले होते थे तथा मध्यकालीन भारत के वास्तुकलात्मक विकास-क्रम से सम्बंधित विभिन्न कालक्रमों को अभिव्यक्त करते हैं। ऐतिहासिक दस्तावेज़ बताते हैं कि तुर्क हमलावरों ने दिल्ली और अजमेर के शासकों को पराजित किया किंतु वे संभवतः दिल्ली और अजमेर में पहले से मौजूद महलों में स्थापित नहीं हुए। नए शासकों ने नई राजधानियों की स्थापना की और स्वयं के महल परिसरों का निर्माण किया। यह आभास मिलता है कि नए शासकों ने विजितों के महलों को तोड़कर नए ढंग से अपनी राजधानियों और महल परिसरों का निर्माण करवाया। अतः यह तर्कपूर्ण है कि नए महलों को नए शासकों द्वारा निर्धारित अभिकल्पनाओं (डिज़ाइनों) और नक़्शों की योजना के अनुसार ही बनाया गया था। मौजूदा संरचनात्मक अवशेषों से उनके नक़्शों की योजना का अनुमान लगा पाना मुश्किल ही है, तथापि इस काल के ऐतिहासिक ग्रंथों में दर्ज़ विविध प्रसंगों से इस शुरुआती काल की इमारतों तथा उनके संदर्भ के विषय में कुछ अनुमान लग पाता है। शाही दरबार, दरबार में बैठने के क्रम तथा दरबार में सम्पन्न शाही कामकाज के विषय में कई संदर्भ मिलते हैं। ऐसे भी कई संदर्भ मिलते हैं जिनसे महल के भीतर केवल महिलाओं के निवास हेतु निश्चित क्षेत्र (अंतःपुर) का संकेत मिलता है। कुछ प्रसंगों में महल के भीतर आराम कक्ष/मंडपों (पैविलियनों) के अस्तित्व का भी संदर्भ मिलता है। निवास हेतु काम में लाए जाने वाले भव्य शाही मुक़ाम का भी इन ग्रंथों में कई बार उल्लेख किया गया है। ये सभी जानकारी इस मत को और पुष्ट करती है कि महल की इमारतें, सामान्यतः पृथक् रूप से निर्मित और आपस में जुड़ी हुई इमारतों के एक समूह के रूप में व्यवस्थित होती थीं, जहाँ कुछ क्षेत्रों में प्रवेश निषिद्ध होता था, निषेध की प्रकृति और मात्रा विभिन्न सुल्तानों के शासन कालों या ऐतिहासिक कालों के अनुसार भिन्न-भिन्न थी।

18.3 राजमहल की इमारतें: 1200-1550

यह ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि दिल्ली में तुग़लक़ाबाद-जहाँपनाह और कोटला फिरोज़ शाह के संरचनात्मक परिसरों के अलावा कोई भी विचारणीय महल परिसर बचा हुआ नहीं है। इन स्थानों में भी अलग-अलग सुल्तानों के महल के इलाक़े को सुनिश्चित कर पाना मुश्किल ही है। यह दिलचस्प है कि अधिक पूर्ण महल परिसरों के उदाहरण और दृष्टांत बुंदेलखंड से प्राप्त होते हैं। पर्सी ब्राउन (1942) का मानना है कि बुंदेलखंड की पहल राणा कुम्भा (1428-68) से प्रेरित है, उनके द्वारा अपनी राजधानी चित्तौड़गढ़ में निर्मित महल से। बाद में, किंतु उसी सदी में, पर्सी ब्राउन आगे कहते हैं, "और अधिक विस्तार मांडू के सुल्तान के संरक्षण में हुआ जिसने चन्देरी में विशिष्ट शैली की कई इमारतों को निर्मित करवाया जो बुंदेलखंड में वास्तुकला का आदर्श रूप बन गईं। इस शैली को, जैसा रूप इसने अंततः लिया, समकालीन मुस्लिम शैली पर आधारित कहा जा सकता है, जैसा कि यह दिल्ली के सुल्तानों के अधीन विकसित हो रही थी, किंतु इसमें देशी हिंदुस्तानी तत्वों का सार शामिल था जो राजपूत शासकों की पसंद, जीवन शैली और परम्पराओं के अनुकूल था"। शासन करने वाली

शक्तियों द्वारा स्थानीय शिल्पकार को दिए गए विवेकपूर्ण संरक्षण ने उनकी कुशलता को निखारा, जिसके उत्कृष्ट विकास की मिसाल इन भव्य महलों में दिखाई पड़ती है। ''प्रत्येक उदाहरण में इमारत की योजना वर्गाकार है, और उसका बाहरी हिस्सा, जो कई मंज़िलों की ऊँचाई लिए हुए है, वर्गाकार प्रांगण या आँगन (***patis***) को घेरकर एक अहाता बनाता है। बाह्य रूप से प्रत्येक मंज़िल को चौड़े छज्जों (eave) और लटकती हुई बालकनी के रूप में गढ़ा गया है, दीवारें छत से आच्छादित वीथिका (arcaded) का रूप लिए हैं, प्रत्येक रेलिंग से छतरियाँ (kiosks) निकली हुई हैं, और प्रत्येक कोण पर मनोहारी गुम्बद का निर्माण किया गया है। आंतरिक भाग विभिन्न प्रकार के कक्षों और उनके बीच खुली छतों से मिलकर बना है, जिनके बीच आवाजाही के लिए गलियारे और वीथिकाएँ बनीं हुईं हैं'' (ब्राउन 1956 {1981})।

चित्र 18.1: चंदेरी महल

साभार: निशांत रंजन, सितम्बर 2018; CC-by-4.0

स्रोत: https://commons.wikimedia.org/wiki File: Chanderi_ Fort, Chanderi_ M.P., India.jpg

अन्य परिसर जो बेहतर हालत में है, झाँसी के निकट स्थित ओरछा महलों का समूह है, जिसका वर्णन पर्सी ब्राउन ने इन शब्दों में किया है: यह एक ''एकल खंड में बनी हुई ठोस संरचना है और पर्याप्त संख्या में छोटी खुली हुई छतरियाँ इसके ऊपर हैं, पर ये इतनी बड़ी नहीं हैं कि उस विशाल भवन-शिल्प के साथ कुल मिलाकर कोई संतुष्टिदायक अनुपात प्रदान करें, जिसके शीर्ष क्षितिज का ये हिस्सा हैं।'' इसका निर्माण मधुकर शाह के संरक्षण में हुआ था और यह 1575 में बनकर तैयार हुई थी।

चित्र 18.2: ओरछा महल

साभार: amanderson, September 2008; CC-by-2.0

फोटोग्राफ साभार: Mandy; amanderson; https://www.flickr.com/photos/amanderson/2414517719/in/photostream/

स्त्रोत: uploaded by Ekabhishek; https://commons.wikimedia.org/wiki File:Orchha_Fort_and_Bridge.jpg

बोध प्रश्न-1

1) दिल्ली सुल्तानों के महलों के स्वरूप के विषय में लिखिए।

.....

.....

.....

2) भारत में मधुकर शाह का महल कहाँ स्थित है? नीचे दिए गए स्थान पर उनके संरचनात्मक स्वरूप के विषय में लिखिए।

.....

.....

.....

3) चन्देरी महल की मुख्य विशेषताओं पर चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

18.4 क़िले: संदर्भ तथा संरचनात्मक स्वरूप

संरचनात्मक क़िस्म के रूप में क़िले/दुर्ग तथा क़िलेबंदी भारत में बहुत प्राचीन काल से ही अस्तित्व में रहे हैं। गौतम बुद्ध के काल में तथा उसके बाद के समय में *महाजनपदों* के दुर्गीकरण के स्थापत्य में प्रतिचित्रण के प्रमाण मिलते हैं। ये स्थापत्य भरहुत, अमरावती, भाजा और कार्ले से प्राप्त पट्टिकाओं पर उकेरे गए हैं। इनमें से कई में गौतम बुद्ध के अवशेषों को हासिल करने के लिए लड़ाइयों के दृश्यों के अंकन हैं; और यहाँ हम राजधानी और *महाजनपदों* के अन्य नगरों में परकोटे, दुर्गीकृत दीवारों और स्तंभ, इत्यादि को दिखाने वाले दृश्यों को स्थापत्य में उकेरा हुआ पाते हैं। गहन दृष्टि डालने पर यह दिखता है कि इनका वास्तु काष्ठ-शिल्प और पत्थर व ईंट की चिनाई का मिला-जुला रूप था। इन स्थापत्य अंकनों से दुर्गीकृत स्थान के नक़्शे का भी कुछ आभास मिलता है – चौड़ी सड़कें, बहुमंज़िला मंडप, प्राचीर, परकोटे, खाई तथा दुर्ग तक पहुँच को नियंत्रित करने वाली ढलानों

को इनमें आसानी से पहचाना जा सकता है. अतः यह अनुमान करना तर्कपूर्ण है कि इसकी बाद की सदियों में भी यह परम्परा दुर्ग के भीतर की इमारतों के संरचनात्मक ढाँचे में आवश्यक संयोजन और समायोजन के साथ जारी रही होगी।

हम समकालीन साहित्य में, गुप्त काल से प्रचुर मात्रा में जानकारी प्राप्त करते हैं, उनके नगरों और दुर्गीकरण के बारे में, हमें पता चलता है कि यह परंपरा 10वीं से 12वीं सदी तक जारी रही। इस प्रकार तेरहवीं सदी की शुरुआत में तुर्क शासन की स्थापना और दिल्ली से आगे उत्तर भारत के आंतरिक इलाकों में उनकी सेनाओं के विस्तारवादी अभियानों ने विभिन्न आकारों की क़िलाबंद आबादियों में स्थापित सरदारों और उनके कुटुंबों से विरोध का सामना किया होगा। यह एक निष्पक्ष अनुमान है कि यह क़िलेबंद आबादियाँ ऊपर वर्णित क़िलेबंदियों का ही कोई स्वरूप रही होंगी जिनका प्राचीन स्थापत्य पट्टिकाओं में उत्कीर्णन है, यद्यपि अभी तक इस तरह की क़िलेबंदियों के भौतिक अवशेष को चिह्नित कर पाना संभव नहीं हो पाया है।

बहरहाल, यह ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि तुर्क शासकों ने इन आबाद दुर्गों को जीतने के बाद नई राजधानियों की स्थापना और स्वयं के क़िलाबंद क्षेत्रों की स्थापना की और मौजूदा ढाँचों को इन विशाल संरचनाओं के अंदर समाहित कर लिया गया। दिल्ली के प्रथम सुल्तान कुतबुद्दीन ऐबक के पास क़िला निर्माण के लिए ध्यान देने हेतु इतना समय नहीं था लेकिन उसके उत्तराधिकारी इल्तुतमिश ने इस कार्य पर ध्यान दिया और मौजूदा राजधानी का दुर्गीकरण किया। आज इस शुरुआती क़िलाबंदी की स्पष्ट पहचान कर पाना मुश्किल है। बहरहाल, यह स्पष्ट है कि कुव्वतुल इस्लाम मस्जिद इस नए शहर का मुख्य आकर्षण थी और शहर के दक्षिणी भाग में स्थित थी।

क़िलेबंदी का अगला महत्वपूर्ण चरण अलाउद्दीन ख़लजी के अधीन शुरू हुआ जब सीरी का क़िलेबंद शहर नई राजधानी के रूप में निर्मित किया गया. बाद में इस शहर को छोड़ दिया गया, अब केवल इसके खंदक और प्राचीर की दीवारें ही बची रह गई हैं, जो दुर्जेय मालूम पड़ती हैं और जिन्होंने आगे बढ़ते हुए मंगोलों के ख़तरे को कम करने में उनकी सहायता की।

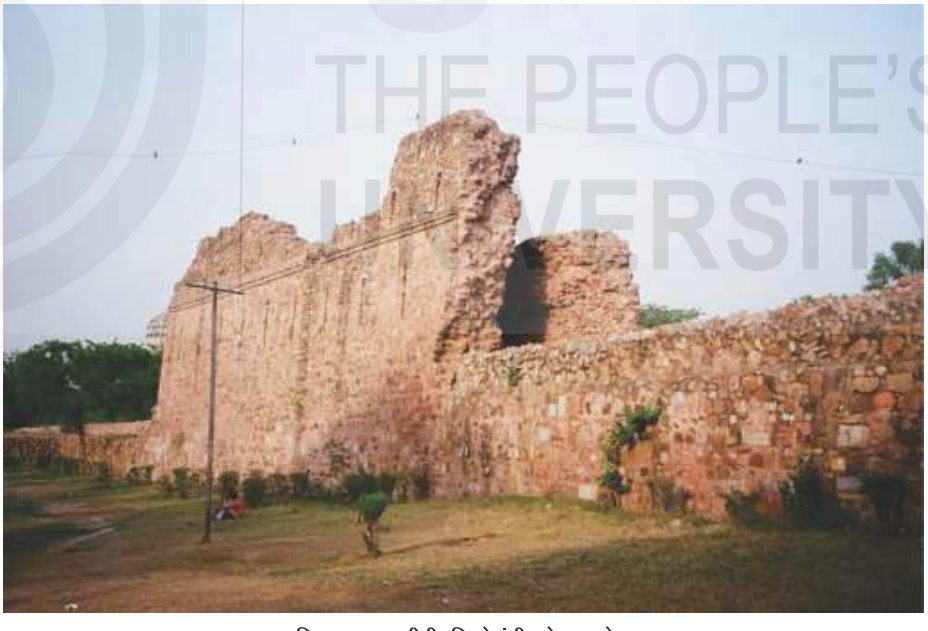

चित्र 18.3: सीरी किलेबंदी के अवशेष

साभार : Nwchar, May 2009; CC-by-3.0

स्रोत: https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Ruins_of_Siri_Fort_wall,_New_Delhi,_India_-_20090517.jpgg

ख़लजी वंश के उत्तराधिकारी शासक उत्साही निर्माता थे और उन्होंने अपनी नई राजधानी के चारों ओर लंबी क़िलाबंदी की। नए शासक ग़ियासुद्दीन तुग़लक़ की सबसे महान् उपलब्धि एक नए सैन्य नगर की स्थापना थी जिसमें शाही मुकाम, उसके अनुचरों के आवास तथा सैन्य व प्रशासनिक भवन शामिल थे। सैन्य क़िले को तुग़लक़ाबाद कहा जाता था, जिसमें मलबा-पत्थर की लम्बी और

विशालकाय दीवारें हैं और मूल रूप से इनको पूर्णतः प्लास्टर किया गया था। इस परिसर में नया शहर, क़िला और महल शामिल हैं। यह परिसर दो हिस्सों में बँटा हुआ हैः एक गढ़ी और दूसरा, शहर। ''इसकी भूमि-योजना, चट्टानी उभारों के कारण, जिन पर यह पूरा परिसर स्थित है, एक अनियमित आयत के रूप में है। इसमें सात किलोमीटर लंबी दीवार है जिस पर वृत्ताकार दो मंजिले बुर्ज बने हुए हैं तथा 52 प्रवेश द्वार हैं, यह सर्वत्र खंदक से घिरी हुई है'' (मार्कलिंगर 2005: 35)। किले का भीतरी हिस्सा आज की तारीख़ में पूरी तरह से खंडहर है तथा सटीक रूप से इसकी भूमि योजना का अध्ययन करना मुश्किल ही है। अन्य महत्वपूर्ण क़िलेबंदियाँ जहाँपनाह और आदिलाबाद का क़िला है, जिनका निर्माण मुहम्मद बिन तुग़लक़ ने करवाया था। यह दोनों आज खंडहर हैं और इनकी आंतरिक संरचना को किसी भी हद तक सही तरीके से प्रस्तुत कर पाना मुश्किल ही है।

चित्र 18.4: तुगलकाबाद का किला

साभारः रंगन दत्ता विकी, अप्रैल 2017; CC-by-4.0

स्रोतः https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Tuglagbad_Fort_Panorama.jpg

अंत में, फ़िरोज़ शाह तुग़लक़ के द्वारा यमुना नदी के किनारे बसाया गया फ़िरोज़ाबाद का शहर है। शहर के भीतर 1354 में निर्मित कोटला स्थित था, जो फ़िरोज़ शाह का दुर्गीकृत महल था। मूलतः, फ़िरोज़ाबाद का शहर ऊँची परकोटे की दीवारों से घिरा हुआ था जिस पर कुछ अंतराल पर बुर्ज बने हुए थे। इसकी योजना आयताकार थी जिसमें महल तथा रिहायशी इलाके पूर्व में स्थित थे, जहाँ वे यमुना नदी द्वारा सुरक्षित थे। कोटला में प्रवेश हेतु द्वार उत्तर की ओर था। कोटला में प्रवेश करने के बाद दरबार, *दीवान-ए आम, दीवान-ए ख़ास* दाहिनी ओर स्थित हैं, जबकि बायीं ओर का बड़ा खुला हुआ स्थान प्रजा के लिए उपलब्ध था। कोटला एक आत्मनिर्भर शाही दुर्ग था।

चित्र 18.5: फिरोज़ शाह कोटला

साभारः रंगन दत्ता विकी, अप्रैल 2017; CC-by-4.0

स्रोतः https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Ferozabad_Panorama.jpg

बोध प्रश्न-2

1) प्राचीन भारत की स्थापत्य पट्टिकाओं में वर्णित दुर्गीकरण के स्वरूप के विषय में लिखिए।

.....

.....

.....

2) नीचे दिए गए स्थान पर मुहम्मद तुग़लक़ द्वारा स्थापित क़िलेबंदियों के विषय में लिखिए।

.....

.....

.....

3) नीचे दिए गए स्थान में कोटला की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

18.5 मक़बरेः सामाजिक संदर्भ और अभिप्राय

कब्र-स्मारक को भारत में सामान्यतः ***मक़बरा*** कहकर पुकारा जाता है। यह मक़बरे और क़ब्रगाह दोनों का प्रतीक है। प्रत्येक मक़बरे में कम से कम एक क़ब्र होती है, यद्यपि इसमें एक से अधिक क़ब्र भी हो सकती हैं, क्योंकि समय गुजरने के साथ-साथ अन्य लोगों को भी उसी इमारत में दफ़नाया गया। अतः मक़बरा स्मारक के रूप में बनाई गई क़ब्र का संकेत करता है। मक़बरे में अन्य इमारतें, मुख्य इमारत से सम्बंधित, जैसे मस्जिद, *मेहमान-ख़ाना*, इत्यादि भी हो सकती हैं।

भारत में कुछ क्षेत्रों में यह प्रवृत्ति रही है कि मुस्लिम समुदाय की क़ब्रगाहें उनके रिहायशी स्थान के दक्षिण में स्थित होती हैं, ''सम्भवतः यह दक्षिण को 'यम अर्थात् मृत्यु के देवता' से जोड़ने के हिंदू विचार का विस्तार थाः सैय्यद तथा लोदी काल में फ़िरोज़ाबाद तथा पुराना क़िला के दक्षिण का दिल्ली का समस्त इलाक़ा, कुतब परिसर तक, एक विशाल क़ब्रिस्तान के रूप में इस्तेमाल में लाया गया। दक्खन में दौलताबाद के निकट खुल्दाबाद को आमतौर पर *रौज़ा* कहकर पुकारा जाता था तथा यह एक क़ब्रिस्तान वाला गाँव था'' (बर्टन-पेज 2008)।

मक़बरे चारों ओर से एक कम ऊँचाई की चारदीवारी से घिरे हो सकते थे। इनके पूर्व में शानदार प्रवेशद्वार हो सकता था। दिल्ली में स्थित मक़बरों के कुछ उदाहरण ऊँचे मेहराबदार चबूतरे पर खड़े हैं और उनमें से कुछ में कोनों पर मज़बूत मीनारों जैसी विशेषताएँ भी देखने को मिलती हैं। ग़ियासुद्दीन तुग़लक़ का मक़बरा इस तर्ज़ पर बना हुआ है। अहमदाबाद में अहमदशाह के वंश की रानियों की क़ब्रें बड़े जालीदार कक्ष में बनाई गई हैं। मक़बरों के परिसर में ***क़िबला*** का संकेत करने हेतु एक या अधिक *'क़िबला* दीवार' भी निर्मित होती थीं या *क़िबला* की दिशा में इस हेतु एक पृथक् ढाँचा भी बनाया जाता था, या इसमें इस तरह से बदलाव किए जाते थे कि इस तरह की दीवार को संरचना में शामिल किया जा सके। दिल्ली में स्थित सिकंदर लोदी के मक़बरे के अहाते की पश्चिमी दीवार में तीन मेहराबें और एक उठा हुआ चबूतरा है, जो अनुमानतः एक आवरणनुमा जालीदार दीवार से युक्त मस्जिद थी। ''अक्सर कोई मकबरा तीन ओर से खुला होता था तथा पश्चिमी दीवार ठोस ढाँचा लिए होती थी ताकि उसमें एक आंतरिक *मेहराब* बनाई जा सके ... बड़े मक़बरों में या तो अलग से एक पूरी मस्जिद होती थी (बिना *मिंबार* के), आंतरिक मिहराब के अलावा या उसके साथ; बीजापुर में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं। यहाँ इब्राहिम का *रौज़ा* ऐसा बेहतरीन उदाहरण है जिसमें एक लंब-चौड़े अहाते में एक ही चबूतरे पर समान अनुपात और वैभवशाली सजावट से युक्त मक़बरा और मस्जिद साथ में खड़े हैं'' (बर्टन-पेज 2008)। कुआँ भी अक्सर इन परिसरों में पाया जाता था; *बावली* भी इसमें कभी-कभी शामिल रहती थी, उदाहरणार्थ सैय्यद सुल्तान मुबारक शाह के कोटला मुबारकपुर, दिल्ली में स्थित क़िलेबंद मक़बरे के अहाते में।

भारत में संग-ए क़ब्र या जमीन से ऊपर उठा रहने वाला क़ब्र का पत्थर या ईंट का ढाँचा व्यक्ति के लिंग पर निर्भर करता था। उत्तर भारत में पुरुषों के मकबरों की विशेषता ऊपरी सपाट सतह पर पत्थर का बना हुआ छोटा सा कलम के डिब्बे के आकार में (*कलमदान*) थे। महिलाओं की क़ब्र में सामान्यतः एक सपाट तख़्त होता था, जैसे बच्चों के लिखने की तख्ती होती है। एक ही तारीख़ और एक ही स्थान पर बनी हुई महिलाओं की क़ब्र पुरुष की कब्र से निचली होती थी। बड़े मक़बरों के मामले में, ऐसा न केवल वास्तविक कब्र के संबंध में था बल्कि क़ब्र के ऊपर बनी हुई इस स्मारक की इमारत के मामले में भी। कभी-कभी, चाहे पुरुष की कब्र हो या महिला की यह केवल हल्का सा उठा हुआ आयताकार घेरा होता था, जिसमें मिट्टी भरी होती थी, मिसाल के लिए खुल्दाबाद में औरंगज़ेब की कब्र; या बीच में घास उगी होती थी, मिसाल के लिए दिल्ली में निज़ामुद्दीन औलिया की *दरगाह* में स्थित शाहजहाँ की पुत्री जहाँनारा बेगम की क़ब्र।

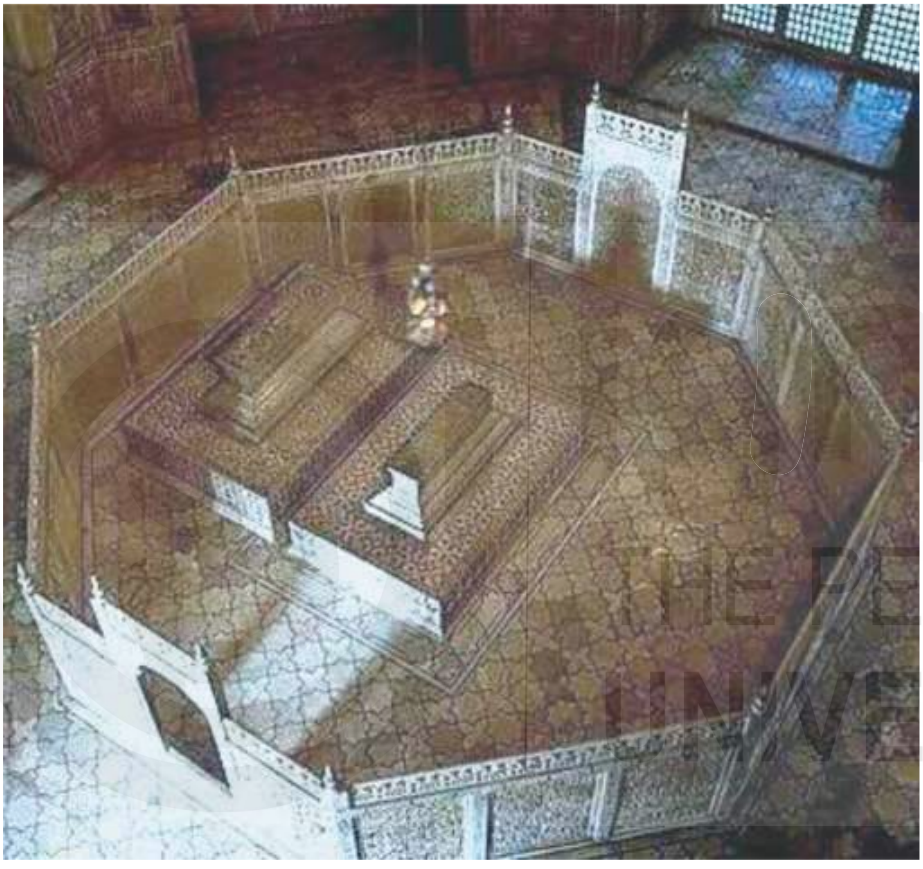

चित्र 18.6: शाहजहाँ तथा मुमताज महल की वास्तविक कब्रें

साभार: anindianmuslim.com

स्रोत: http://www.anindianmuslim.com/2013/03/inside-taj-mahal-seeing-replica-of-shah.html

"कब्रों का एक विशिष्ट वर्ग, जो संख्या में कम लेकिन एक बड़े इलाके में विस्तृत है, वह हैं 'नौ गजा पीर' की समाधियाँ, जिन्हें प्रायः हिंदुस्तान में इस्लाम के शुरुआती दिनों में आने वाले योद्धा संतों से जोड़ा जाता है। इनमें से बहुत के विषय में यह किवदंती प्रचलित है कि वे चमत्कारिक ढंग से अपनी लंबाई को बढ़ाते जाते हैं" (बर्टन-पेज 2008)। इनमें से कई समाधियों के विषय में यह मान्यता है कि वह परेशानियों का निदान करती हैं उनमें मौजूद पीर की शक्तियों के द्वारा, जैसे अब भी महिलाएँ फतेहपुर सीकरी में स्थित सलीम चिश्ती की दरगाह पर जाली में रिबन बांधती हैं ताकि उनके बांझपन का उपचार हो सके या उन्हें औलाद हासिल हो सके। इस तरह का व्यवहार केवल मुस्लिमों तक सीमित नहीं है, हिंदू महिलाएँ भी अक्सर कादिर भाइयों की समाधि पर बीजापुर में सम्मान प्रकट करती हैं। कुछ मक़बरों में अभिलेख भी होते हैं, कभी-कभी केवल नाम और मरने वाले की मृत्यु की तारीख़ दर्ज़ होती थी, किंतु कई क़ब्रों के पत्थरों पर कुछ भी जानकारी मृतक के बारे में नहीं होती, इस कारण बहुत से महत्वपूर्ण मक़बरों की पहचान भी नहीं हो पाई है।

18.6 मक़बरों के नमूने और स्वरूप

मक़बरों का वर्गीकरण, बर्टन-पेज लिखते हैं, बहुत जटिल है, विशेषतः संक्षेप में इस पर विचार करने की दृष्टि से। इसका सबसे सामान्य प्रकार है, *छत्र*, जिसमें स्तम्भों पर टिका एक एकल गुम्बद होता है; इसमें भी वर्गाकार या अष्टभुजाकार स्थान को घेरकर बने मक़बरे सबसे अधिक प्रचलन में थे, यद्यपि षड्भुजाकार निर्माण योजना भी अज्ञात नहीं थी। "बौद्ध तथा हिंदू, दोनों की अंतिम संस्कार की परम्पराओं में छतरी के प्रचलन से, यह सम्भावना है कि यह इस पारलौकिक या मृत्यु पश्चात् रीति के विचार की ही निरंतरता थी (किंतु अंतिम क्रिया के स्थल की पहचान के लिए छत्र का हिंदू उपयोग, जो ख़ासकर राजपूत शासकों में आम था, जैसे उदयपुर और जयपुर में, मुस्लिम स्वरूप से वापस ग्रहण किया गया था)"। यह भी सम्भावना रहती थी कि मृत्यु-पश्चात् दफ़नाने के लिए बनी यह इमारत इसके मालिक के जीवनकाल में अन्य उद्देश्य के लिए उपयोग में लाने हेतु बनाई गई हो। अगली क़िस्म बारह खम्भों पर टिकी वर्गाकार छत, *बारादरी*, वाला नमूना है। इसका व्यापक धर्मनिरपेक्ष उपयोग भी था। इस क़िस्म का थोड़ा विस्तारित रूप गुजरात के मक़बरों की विशेषता है, जहाँ आंतरिक कक्ष और चारों ओर का बाहरी बरामदा, दोनों ही आवरणनुमा जालीदार दीवार से युक्त होते थे। "पत्थर-ईंट की चिनाई वाले मक़बरों का अधिक प्रचलित रूप, शीर्ष पर गुम्बद से सुसज्जित वर्गाकार कक्ष के रूप में था; किंतु चौदहवीं सदी से अष्टभुजाकार स्वरूप भी देखने को मिलते हैं (सैय्यद और लोदी वंश के मक़बरों में लोकप्रिय)"। "सासाराम में स्थित सूरकाल की दो समाधियों में मक़बरा कृत्रिम झील के बीच में मौजूद है, जिस तक जाने के लिए एक प्रवेशद्वार और पक्का सेतुमार्ग बना हुआ है" (बर्टन-पेज 2008)।

तेरहवीं सदी की शुरुआत में भारतीय वास्तुकला में एक ऐसी क़िस्म की इमारत दिखाई पड़ती है, जिसका विचार और स्वरूप अब तक भारत में अज्ञात ही था, मक़बरे का यह पहला उदाहरण, सुल्तान गढ़ी का मकबरा, शमसुद्दीन इल्तुतमिश द्वारा अपने पुत्र नसीरूद्दीन महमूद के अवशेषों पर 1231 सी ई में निर्मित किया गया था। दीवारयुक्त अहाते के रूप में निर्मित, पर्सी ब्राउन लिखते हैं, यह इमारत दिल्ली से 3 मील की दूरी पर अपेक्षाकृत कुछ निर्जन से स्थान पर थी, यह असम्भव प्रतीत नहीं होता है कि इस इमारत को पवित्र स्थल की तरह देखा जाता था तथा राजपरिवार के लोग कुछ ख़ास मौक़ों पर वहाँ अपनी श्रद्धा प्रकट करने आते हों।

चित्र 18.7: सुल्तान गढ़ी का मकबरा
फोटोग्राफ: रविन्द्र कुमार

"सुल्तान गढ़ी, जैसा कि इसे स्थानीय स्तर पर जाना जाता है, इसे यह नाम दिया गया है क्योंकि प्रतीकात्मक क़ब्र एक भूमिगत कक्ष है, और इसकी पूरी योजना को इस तरह अभिकल्पित किया गया है कि यह छोटे-मोटे अवसरों पर एक सुकून भरे स्थान के रूप में उपयोग में लाया जा सके। इन अवसरों पर निजता सुनिश्चित की जा सकती थी, क्योंकि यह अहाता एक ईंट-पत्थर की चिनाई वाले मज़बूत छतयुक्त पथ से घिरा था, यह पूरी संरचना एक ऊँचे चबूतरे पर उठा कर बनाई गई थी, जिसके पूर्वी छोर में एक विशाल द्वार बना था। इसके बाहरी ढाँचे, जो धूसर ग्रेनाइट पत्थर से बना था तथा

जिसमें वर्गाकार शीर्षाधार पर प्रत्येक कोण पर वृत्ताकार बुर्ज निकले हुए थे, की बनावट गम्भीर और सामरिक क़िस्म की प्रतीत होती है, ऐसा प्रतीत होता है, राजधानी के मुख्य क़िले के लिए अग्रिम सुरक्षा चौकी के रूप में प्रयोग भी इसका गौण उद्देश्य रहा होगा। किंतु जैसे ही प्रवेशद्वार से अंदर घुसते हैं, दिमाग़ में उभरी यह छवि ग़ायब हो जाती है क्योंकि आंतरिक अभिकल्पना विश्राम और शांति का आभास देने वाली है'' (पर्सी ब्राउन 1981 [1956])।

अगला महत्वपूर्ण मक़बरा इल्तुतमिश का है, जो 1235 से कुछ समय पहले बना होगा। दिल्ली के महरौली में कुव्वतुल इस्लाम मस्जिद के बाहर उत्तर-पश्चिम कोण पर स्थित यह वर्गाकार ढाँचा है, एक मज़बूत ढाँचा जिसकी तीन दिशाओं में प्रत्येक में प्रवेशद्वार हैं तथा पश्चिम में बंद दीवार है, जिसके अंदर की तरफ़ तीन मिहराबों की एक श्रृंखला उकेरी गई है। ''प्रवेश द्वारों को ढालने के लिए बनाई गईं नुकीली मेहराबों के चारों ओर बारीकी से उत्कीर्ण नमूने और किनारों को छोड़कर इसका बाहरी हिस्सा अपेक्षाकृत सादा है, यह संभव है कि ऐसी स्थिति इसे इसके बाहरी भाग को अधूरा छोड़ देने के कारण है। बहरहाल, इसके विपरीत इसका आंतरिक हिस्सा, जो एक घनाकार कक्ष है, इतना परिष्कृत ढंग से उत्कीर्णित है कि यह अलंकरण से परिपूर्ण हिंदू मंदिरों को टक्कर देता है, विशेषकर, जैसे कि इसकी लाल बलुआ पत्थर की दीवारों के बीच में सफेद संगमरमर को डालकर इसे संयोजित किया गया है'' (पर्सी ब्राउन 1981 [1956])। *कूफ़ी, तुग़रा* और *नस्तालिक* अक्षरों में *कुरान* के उद्धरण इसमें किए गए प्रमुख रूपांकन है, यद्यपि ज्यामितिक और पारंपरिक अलंकरणों को इसके बीच में भरा गया है, किंतु अभिलेखीय भित्ति-चित्र की सजावट के रूप में यह आंतरिक साज-सज्जा का विशिष्ट रूप से अनूठा उदाहरण है।

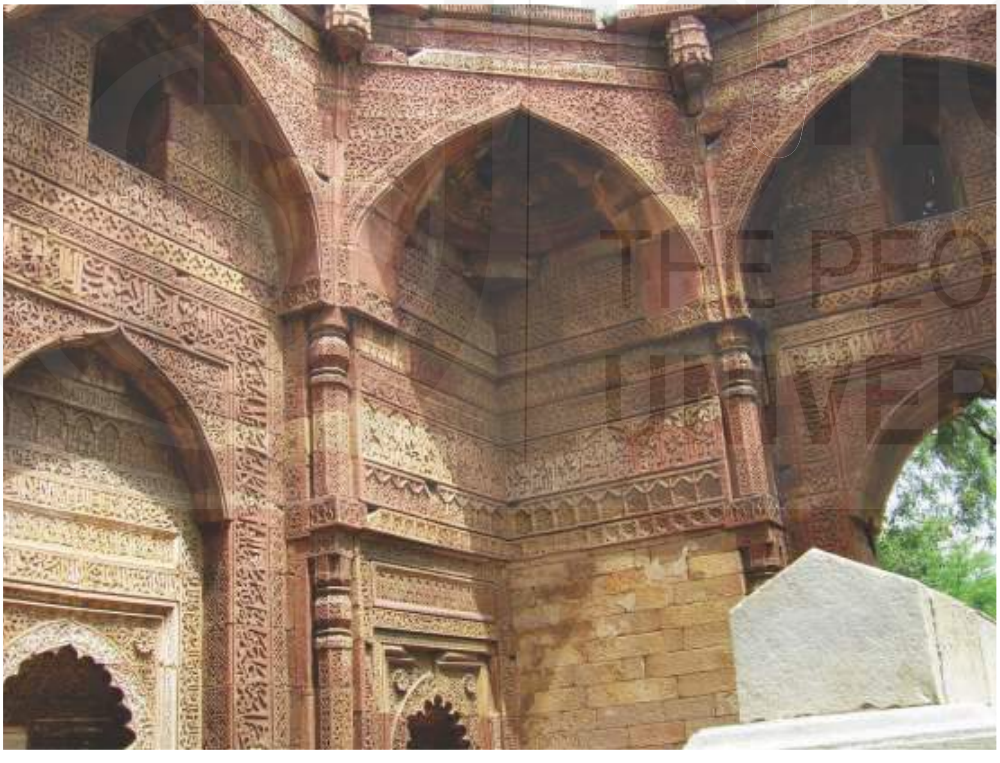

चित्र 18.8: इल्तुतमिश का मकबरा
फोटोग्राफः रविन्द्र कुमार

इस क्रम में अगली संरचना ग़ियासुद्दीन तुग़लक़ का मक़बरा है। इस शासक द्वारा निर्मित किए गए तुगलकाबाद जैसे मुख्य निर्माण कार्य की ध्वस्त हालत के विपरीत उसका मकबरा श्रेष्ठ स्थिति में है। स्पष्ट है कि इस संरचना को संरक्षित और सुरक्षित रखा गया है। पर्सी ब्राउन कहते हैं कि मूलतः यह संरचना एक कृत्रिम झील के बीच स्थित एक पृथक ढाँचा था, किंतु किले से एक उठे हुए सेतु मार्ग द्वारा जुड़ा हुआ था। देखने पर ग़ियासुद्दीन तुग़लक़ का मकबरा स्वयं में परिपूर्ण एक किले की तरह नजर आता है; वहीं दूसरी ओर इसके निर्माण का उद्देश्य मृत्यु पश्चात् अंतिम विश्राम स्थल भी था।

चित्र 18.9: ग़ियासुद्दीन तुगलक का मकबरा
साभार: वरुण शिव कपूर, फरवरी 2009; CC-BY-2.0
स्रोत: https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Mausoleum_of_Ghiyath_al-Din_Tughluq.jpg

इस काल में ध्यान देने योग्य दिल्ली के तीन अन्य मक़बरे भी हैं, इनकी विशेषता यह है कि ये तीनों वास्तुकलात्मक रूप से महत्वपूर्ण हैं। इन तीनों में से पहला मक़बरा फ़िरोज़ शाह तुग़लक़ के अवशेषों के ऊपर बनाया गया है, दूसरा फ़िरोज़ शाह तुग़लक़ के *वज़ीर ख़ान-ए* जहां तेलंगानी की क़ब्र के ऊपर और तीसरा ढाँचा फ़िरोज़ शाह तुग़लक़ के उत्तराधिकारी तुग़लक़ शाह द्वारा प्रसिद्ध संत कबीरुद्दीन औलिया के लिए एक स्मारक के रूप में निर्मित किया गया है। "इमारतों की लंबी-चौड़ी श्रृंखला में, जिसका महत्वपूर्ण हिस्सा फ़िरोज़ शाह तुग़लक़ का मक़बरा है और जिसे अब *हौज़ ख़ास* के नाम से जाना जाता है, फ़िरोज़ शाह की समाधि और एक विशाल और विस्तृत इमारत के खंडहर, जिनकी पहचान एक मदरसे के रूप में की गई है, शामिल हैं, एक रमणीक झील के किनारे नयनाभिराम ढंग से स्थित है। इस संरचना की जर्जर होती दीवारों के बीच मक़बरा ठीक-ठाक ढंग से पूरा टिका हुआ है, स्तंभों की श्रृंखला पर टिकी छत वाली मेहराबों और शहतीरों से बनी वीथिका के साथ, और हालांकि, इसकी अभिकल्पना और निर्माण उस समय के सीमित संसाधनों के बीच किया गया है, इसका अनुपात और सामान्य निरूपण इसे एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान करता है" (पर्सी ब्राउन 1981 [1956])।

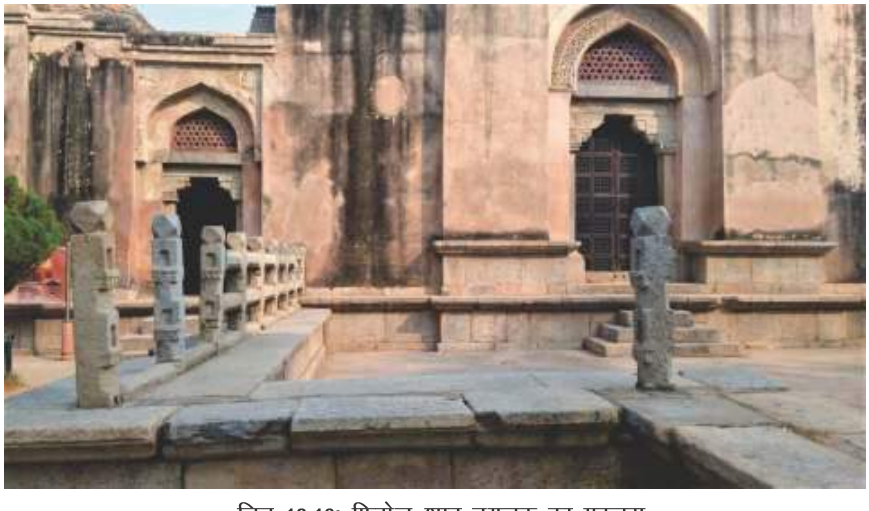

चित्र 18.10: फिरोज़ शाह तुगलक का मकबरा
फोटोग्राफ: रविन्द्र कुमार

फ़िरोज़ शाह तुग़लक़ की मृत्यु (1388) के एक दशक के भीतर ही सल्तनत राजनीतिक रूप से अस्थिर हो गई और 1398 में तैमूर ने इसे तहस-नहस कर दिया और लूटपाट मचाई। हालांकि, इसके बाद आने वाले सैय्यद और लोदी वंशों के काल में केंद्रीय सत्ता का कुछ आभास बना रहा, यद्यपि उन्होंने 1414 से 1526 के बीच एक बहुत ही सिमट चुकी दिल्ली सल्तनत के ऊपर ही शासन किया था। इस काल में दिल्ली और उसके आसपास बड़ी संख्या में मक़बरों का निर्माण हुआ, इतना अधिक कि दिल्ली एक विशाल *कब्रिस्तान* की तरह नजर आने लगी।

चित्र 18.11: मुहम्मद शाह सैय्यद का मकबरा
फोटोग्राफः रविन्द्र कुमार

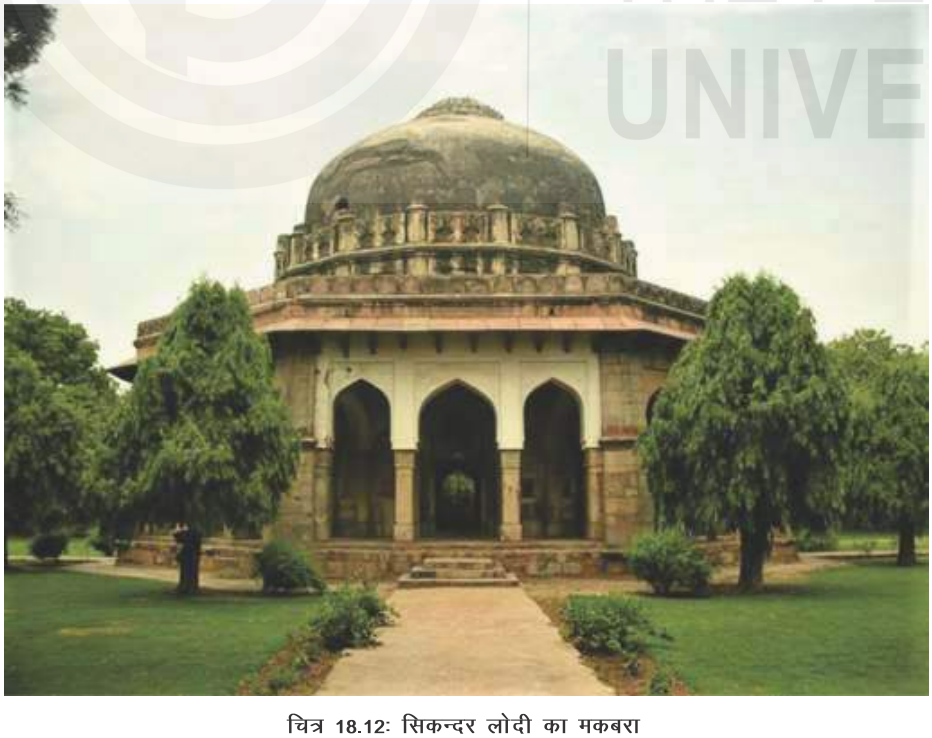

चित्र 18.12: सिकन्दर लोदी का मकबरा
फोटोग्राफः रविन्द्र कुमार

तथापि, इनमें से कुछ संरचनाएँ वास्तुकला की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं और इन्हें एक विशिष्ट शैली का संकेत माना जा सकता है। इन मकबरों की मुख्य इमारतों ने दो अलग-अलग स्वरूप ग्रहण किए जिनके विशेष लक्षण यहाँ दिए जा रहे हैं:

a) मकबरे अष्टभुजीय योजना पर बनाए गए हैं जिसके मुख्य तत्व हैं:

- एक मेहराबदार बरामदे से घिरा मुख्य समाधि कक्ष
- एक मंजिला ऊँचाई
- बरामदे के बाहर निकली हुई ओरी/छज्जे (eaves) जो आलम्बन के लिए टेक पर टिकी हुई है।

b) दूसरे प्रकार की इमारतें वर्गाकार योजना पर आधारित हैं, इसके मुख्य तत्व है:

- मुख्य समाधि कक्ष के चारों ओर बरामदों की अनुपस्थिति
- बाहरी हिस्सा दो या कभी-कभी तीन मंजिलों वाला
- छज्जे/ओरी (eaves) एवं समर्थन देने वाले टेक का अभाव।

इन भवनों में सजावट के लिए मौलिक रूप से रंगीन खपरैल (tiles) का मौलिक प्रयोग किया गया था, छत के ऊपरी हिस्से चित्रवल्लरी (frieze) में कहीं-कहीं इनका प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त इनमें बारीकी से तराशी गई नक्कशीयुक्त प्लास्टर की सतह भी है।

ऊपर उल्लिखित मक़बरों के अलावा कई अन्य इमारतें भी थीं जो कम महत्व नहीं रखती हैं, कुछ का निर्माण पहले हुआ तो कुछ दिल्ली सल्तनत के समाप्त होने के बाद निर्मित हुईं लेकिन यह सभी किसी न किसी ढंग से लोदी वास्तुकला की परंपरा को बनाए रखती हैं। "इनमें से दो दिल्ली में स्थित दो कुलीनों के मकबरे हैं, 1547 में निर्मित ईसा ख़ान का मकबरा और दूसरा अधम ख़ान का, जिसकी मृत्यु 1561 में हुई थी। इसके अतिरिक्त राजधानी से दूर कालपी (बुंदेलखंड) और ललितपुर (झांसी ज़िला) के कस्बों में भी इसी शैली के मकबरे हैं, इसमें से पहले को, जिसे स्थानीय स्तर पर चौरासी गुंबज़ या चौरासी गुंबद के रूप में जाना जाता है, किसी लोदी राजा का मकबरा माना जाता है, और दूसरे वाले में एक जामी मस्जिद भी है। इनमें 1564 के आस-पास ग्वालियर में निर्मित मोहम्मद गौस का मक़बरा भी जोड़ा जा सकता है, ऐसी इमारत जिसमें संरचना तो लोदी शैली की है किन्तु आलंकारिक लक्षणों को गुजरात की निर्माण शैली से ग्रहण किया गया है, एक क़िस्म की पद्धति और दूसरी तरह के निरूपण का मिश्रण जो इसकी भौगोलिक स्थिति से संभव हुआ था। अंत में, और सबसे महत्वपूर्ण विकास सुदूर बिहार में लोदी शैली में विकसित मकबरों के समूह में देखने को मिलता है, जो सोलहवीं सदी के मध्य से देखने को मिलते हैं, तथा इस शैली के सबसे नवीनतम और भव्य रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं" (पर्सी ब्राउन 1981 [1956])। ये सुदूर स्थित और विशिष्ट उदाहरण अफ़ग़ान शासक शेरशाह सूरी के मध्यवर्ती राज्यकाल में निर्मित हुए थे, और अपनी विशेषताओं में पर्याप्त रूप से स्वतंत्र चरित्र रखते हैं।

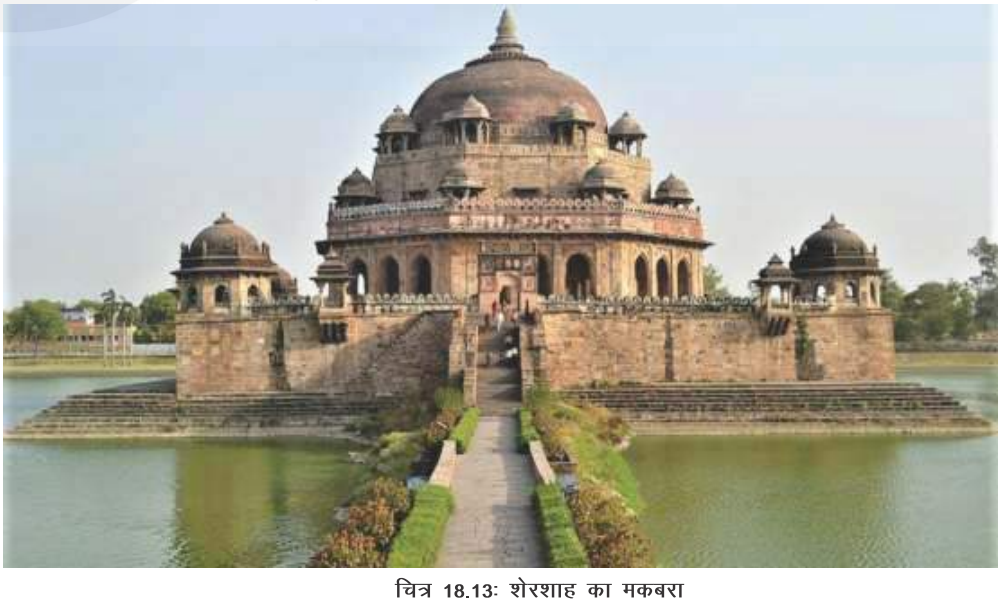

चित्र 18.13: शेरशाह का मकबरा
फोटोग्राफ: रविन्द्र कुमार

बोध प्रश्न-3

1) भारत में मकबरे के सामान्य स्वरूप के विषय में लिखिए।

.....

.....

.....

2) नीचे दिए गए स्थान पर सैय्यद और लोदी काल के मकबरों की मुख्य विशेषताओं की विवेचना कीजिए।

.....

.....

.....

3) लोदी काल में दिल्ली सुल्तानों के अलावा अन्य मकबरों की इमारतों के विषय में बताइए।

.....

.....

.....

18.7 सार्वजनिक निर्माण-कार्यः संदर्भ और स्वरूप

सार्वजनिक इमारत या लोक निर्माण से तात्पर्य, स्पष्टतः, ऐसी संरचनाओं से है जिनका निर्माण आम जनता को विभिन्न प्रकार की सेवाएँ उपलब्ध कराने या विभिन्न सामाजिक-आर्थिक कार्यों को संपन्न करने के लिए किया जाए। इनका निर्माण चाहे राज्य द्वारा किया जाए या अर्ध-सरकारी या निजी एजेंसी द्वारा किया जाए, यह संस्थाएँ अन्य इमारतों से कम से कम इस सारभूत संदर्भ में भिन्न होती हैं कि इनमें लगाए गए धन का उद्देश्य सामाजिक लाभ और सेवाएं प्रदान करना होता है। मोटे तौर पर कहें तो ये सार्वजनिक उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त होने वाली इमारतें हैं, साथ ही प्रशासनिक और आर्थिक कामों के लिए उपयोग में आने वाली कई क़िस्म की इमारतों को सार्वजनिक निर्माण के तौर पर चिह्नित किया जा सकता है। इस प्रकार, बाँध, नहरें, सड़कें, *सराय*, पुल, चुंगी की चौकी, सीमा-शुल्क चौकी, अस्पताल, पत्तन कुछ महत्वपूर्ण सार्वजनिक निर्माण-कार्य हैं जिनका उल्लेख किया जा सकता है। ये आम जनता के सामाजिक तथा आर्थिक हितों की पूर्ति करते हैं। पूर्व-आधुनिक यूरोप की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि लोक निर्माण के कार्यों में राज्य से इतर निजी निगम और उद्यम बड़ी मात्रा में शामिल थे। इसके विपरीत, पूरब की दुनिया में इसकी पहल और इनमें निवेश मुख्यतः राज्य द्वारा किया जाता था और केवल कभी-कभार ही आंशिक रूप से निजी इकाइयाँ इसमें भागीदारी करती थीं।

यद्यपि यह अनुमान लगाने हेतु पर्याप्त साक्ष्य मौजूद हैं कि प्राच्य समाजों में भी ख़ासकर मध्यकालीन भारत में शासक वर्ग के सदस्य बड़ी मात्रा में संपत्ति इकट्ठा करने के अवसरों से पूर्णतः वंचित नहीं थे। और कभी-कभी इस संपत्ति का कुछ हिस्सा लोक निर्माण के कार्यों की स्थापना पर भी खर्च होता था। किंतु जिस तरह की मध्यकालीन भारत में राज्य और समाज की प्रकृति थी, उसमें धन के संग्रहण और निवेश पर स्पष्टतः कुछ नियंत्रण था। राजस्व भू-अनुदानों के स्थानांतरण की व्यवस्था, शासकों द्वारा बारंबार अमीरों की संपत्ति को ज़ब्त करना, और सामान्य रूप से उप-करों (cesses) का भारी बोझ तथा व्यापारियों और शिल्पकारों पर राज्य के नियंत्रण के कारण मध्यकालीन भारत में निजी संपत्ति की संस्था को कमजोर करने की प्रवृत्ति थी; इसी अनुपात में लोक निर्माण कार्यों में निजी निवेश को भी हानि उठानी पड़ी।

तुर्क विजय के बाद के काल में लोक निर्माण-कार्यों के संबंध में साक्ष्य अधिक विविधता लिए हुए हैं। मध्यकाल में लोक निर्माण-कार्यों के कई संदर्भ उपलब्ध हैं। यह कहा जा सकता है कि लोक निर्माण-कार्यों की संख्या और उनकी विविधता में अचानक हुई इस वृद्धि के पीछे एक ओर तो उपलब्ध सामाजिक अधिशेष में प्रत्यक्षतः नज़र आने वाली वृद्धि थी, जो कई तरह की तकनीकों और कौशलों के प्रचलन में आने का परिणाम था, तो दूसरी ओर यह संभवतः राज्य और सत्ताधारी वर्गों के हाथों में अधिक संसाधनों के संकेंद्रण का संकेत भी करता है। इसके अतिरिक्त, ऐसा प्रतीत होता है कि

भवन निर्माण की नवीन तकनीकें जो तुर्कों के साथ आई थीं, वह महत्वपूर्ण उत्प्रेरक साबित हुईं। संभवतः बाद के काल में बड़े स्तर पर पुलों का निर्माण मुख्यतः नई तकनीकों के उपयोग से ही संभव हो पाया था।

18.8 मुख्य सार्वजनिक निर्माण-कार्यः 1200-1550

सल्तनत काल के दौरान कई तरह के लोक निर्माण-कार्य जैसे *सराय*, पुल, तालाब, बाँध, नहरें, इत्यादि के कार्यों को राज्य द्वारा बड़े स्तर पर निर्मित किया जाने लगा। जैसा कि हम इस भाग के आख़िरी हिस्से में देखेंगे सल्तनत और मुगल काल में सबसे आम और संख्या में सबसे अधिक बनाए जाने वाले लोक निर्माण के कार्य *सराय* और पुलों के रूप में थे। किंतु ऊपर उल्लिखित अन्य प्रकार के लोक निर्माण-कार्य भी किसी तरह से नगण्य नहीं हैं। इन दूसरी तरह की संरचनाओं में सबसे प्रमुख नहरें तथा बाँध हैं। यहाँ हम उन संबंधित साक्ष्यों का उल्लेख कर सकते हैं, जो मध्यकालीन भारत में *सराय* तथा पुल के अलावा अन्य लोक निर्माण-कार्य जैसे सड़कें, बाँध, नहरें, तालाब, इत्यादि के विषय में हमारी यह समझ बनाने में सहायक होगा कि यह व्यापक आर्थिक महत्व रखते थे और इनका विस्तार में अध्ययन किए जाने की जरूरत है।

लोक निर्माण-कार्यों की मरम्मत और उनके निर्माण पर विशेष ध्यान देने के लिए वृत्तांतकारों ने फ़िरोज़ तुग़लक़ की काफी प्रशंसा की है। उन्होंने दिल्ली में अपने पूर्व-शासकों द्वारा निर्मित दो बड़े तालाबों शम्सी तालाब और अलाई तालाब (*हौज खास*) की मरम्मत करवाई थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने दिल्ली और दिल्ली के आसपास पानी के भंडारण के लिए कई बांधों का निर्माण भी करवाया, इनमें से छः बाँधों को अफ़ीफ ने सूचीबद्ध किया है, *बंद-ए फतेह ख़ान, बंद-ए मलजा, बंद-ए महिपालपुर, बंद-ए शुक्र ख़ान, बंद-ए सलोरा, बंद-ए वज़ीराबाद*। 1919 में दिल्ली के स्मारकों पर किए गए एक विस्तृत सर्वेक्षण में भी इन संरचनाओं को दर्ज किया गया है तथा संक्षेप में इनका विवरण भी प्रस्तुत किया गया है। बाद में, 1967 में इन संस्थाओं का सर्वेक्षण विस्तार से टोक्यो विश्वविद्यालय के मिशन फॉर इंडियन हिस्ट्री एंड आर्कियोलॉजी द्वारा किया गया। जापानी विद्वानों के तीन सदस्यीय इस दल में टी. यामामोटो, एम. आरा और टी. सुकीनोवा शामिल थे। तदंनतर उनकी रिपोर्ट प्रकाशित हो चुकी है तथा जापानी भाषा में उपलब्ध है। इसमें इन संरचनाओं के उत्कृष्ट चित्र और इनकी भूमि योजना के आरेख प्रस्तुत किए गए हैं। फिरोज़ शाह को सिंचाई वाली नहरों की एक सुव्यवस्थित प्रणाली का निर्माण करने का श्रेय भी दिया जाता है। इन नहरों का विवरण शम्स सिराज अफ़ीफ़ और याह्या सरहिंदी द्वारा दिया गया है। जमुना और सतलज से निकाली गई दो नहरें 'करनाल के आसपास से गुज़रते हुए और 80 *कोस* (200 किलोमीटर लगभग) की दूरी तय करने के बाद अपना पानी एक चैनल से इस शहर (हिसार फिरोज़ा) में लाती थीं'। यह संकेत किया गया है कि इस क्षेत्र में सिंचाई हेतु नहरों द्वारा पानी लाने के बाद *रबी* की फसलों को काफी लाभ हुआ। सतलज से लाई गई नहर, सफीदून तक, के मार्ग का उपयोग अकबर द्वारा *शिहाब नहर* की खुदाई के दौरान किया गया था। सरहिंदी अन्य दो नहरों का श्रेय भी फ़िरोज़ शाह को देता है – एक जो दीपालपुर के पास से जहबाज़ तक आती थी और दूसरी जो कहखर से हरनी खेड़ा तक सिरसा नदी के समानांतर आती थी। बंगाल में, हमें यह बताया गया है कि, ग़ियासुद्दीन तुग़लक़ ने कई तटबंधों का निर्माण करवाया था ताकि उनके ऊपर से गुजरने वाली सड़कें बरसात के दौरान बाढ़ से ना भर जाएँ।

चंदेरी के विरुद्ध अपने अभियान के दौरान, हम पाते हैं, बाबर द्वारा आगरा और चंदेरी के मध्य मार्ग पर पड़ने वाले कई बाँध की संरचनाओं का उल्लेख किया गया है जो स्पष्ट तौर से पुराने समय से अस्तित्व में रहे होंगे। कम से कम इनमें से एक संरचना को, जो आगरा और धौलपुर के बीच स्थित थी, बाबर द्वारा सिकंदर लोदी द्वारा निर्मित बताया गया है।

सराय इन सार्वजनिक भवनों में सबसे विशिष्ट थीं। इसका प्रचलन भारत में तेरहवीं शताब्दी में तुर्कों द्वारा किया गया। *सराय* का ज़िक्र सर्वप्रथम बलबन के समय (1266) में मिलता है। बाद के शासकों में मुहम्मद तुगलक और फ़िरोज तुगलक ने दिल्ली के आस-पास और सल्तनत के स्थल-मार्गों पर अनेक *सरायें* बनवाईं। इन *सरायों* की मुख्य विशेषताएँ हैं:

- वर्गाकार और आयताकार विन्यास जो पक्की दीवारों से चारों ओर से घिरे होते थे जिसमें प्रवेश के लिए एक अथवा कभी-कभी दो दरवाजे होते थे,
- कतार में बने कमरे जिनके आगे मेहरबानुमा जगह होती थी। गोदाम अहाते के कोने में था।
- अहाते में एक छोटी मस्जिद और एक या दो कुएँ होते थे (यह विशेषताएँ शेरशाह के समय की *सराय*-योजना में देखी जा सकती हैं)।

चित्र 18.14: *सराय* के अंदरूनी हिस्से में स्थित कमरों का आंतरिक विन्यास
फोटोग्राफः रविन्द्र कुमार

पुल सार्वजनिक भवनों की अन्य महत्वपूर्ण श्रेणी थी। लेकिन छोटी और मध्य परिमाण की नदियों पर ही पक्के पुल बनाए गए थे। बड़ी नदियों, जैसे, गंगा और यमुना पर नौकाओं से बने पुल थे। हमारा सौभाग्य है कि उस समय के बने ऐसे दो पक्के पुल आज भी अस्तित्व में हैं। एक गम्भीरी नदी पर चित्तौड़गढ़ में है तथा दूसरा, साहिबी (यमुना नदी की एक शाखा) नदी पर वज़ीराबाद, दिल्ली में स्थित है।

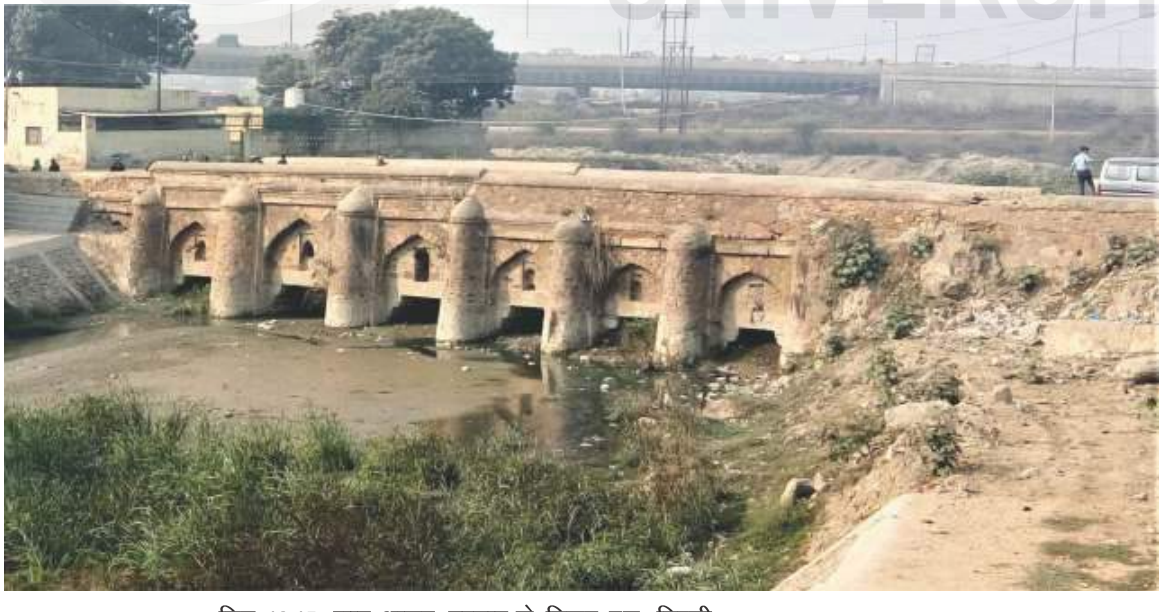

चित्र 18.15: शाह आलम *दरगाह* के निकट पुल, दिल्ली
फोटोग्राफः रविन्द्र कुमार

चित्र 18.16: सीरी के निकट पुल, दिल्ली
फोटोग्राफ: रविन्द्र कुमार

चित्र 18.17: गंभीरी नदी पर निर्मित पुल, चितौड़गढ़
फोटोग्राफ: रविन्द्र कुमार

बोध प्रश्न-4

1) मध्यकालीन भारत में सार्वजनिक निर्माण कार्यों की प्रकृति के विषय में लिखिए।

.....

.....

.....

2) मध्यकालीन इतिवृत्तकारों द्वारा उल्लिखित चार मुख्य सार्वजनिक निर्माण कार्यों को बताइए।

.....

.....

.....

3) *सराय* वास्तुकला की मुख्य विशेषताओं पर चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

18.9 सारांश

हमने इस इकाई में चार अतिरिक्त इमारतों के प्रकार – महल, क़िले, मक़बरे और लोक निर्माण-कार्य जैसे; *सराय*, पुल, नहर, बाँध, इत्यादि के बारे में पढ़ा। यह अध्ययन, मंदिर, मस्जिद और *दरगाह*, जिन पर **इकाई 17** में विस्तार से चर्चा की गई है, के अतिरिक्त है। यहां प्रस्तुत किए गए विवरण से यह स्पष्ट है कि कुल मिलाकर यही सात प्रकार की इमारतें हैं, जो मध्यकालीन भारत के वास्तुकलात्मक परिदृश्य को समृद्ध बनाती हैं। इनसे यह भी पता चलता है कि विविधता तथा उपयोगिता के सरोकारों का इस परिदृश्य में बोलबाला था। महलों की संरचनाओं के अवशेष यद्यपि दुर्लभ ही हैं, किंतु इनके साहित्यिक साक्ष्य काफ़ी पुख्ता हैं। मध्यकालीन भारत के शुरुआती इतिवृत्तकारों से यह संकेत मिलता है कि नए शासकों ने नए निर्माण को प्राथमिकता दी, बजाय कि पहले से मौजूद रहे महलों में जोड़-तोड़ करने और उन्हें अपनाने के। इस तरह बनाए गए महल नए शासकों की योजना और डिज़ाइनों के अनुरूप थे। इनके निर्माण में लगे हुए राजगीर तुर्क पूर्व भारत में इस्तेमाल होने वाली योजनाओं और डिज़ाइनों से परिचित स्थानीय लोग थे। उन्हें इन नई डिज़ाइनों (अभिकल्पनाओं) और तकनीकों के प्रयोग में लगा दिया गया था, जिसे उन्होंने जल्दी ही अपना लिया तथा सुंदर ढंग से परिकल्पित की गई इमारतों को सृजित किया। किलों के साथ भी समान स्थिति थी। मक़बरे के मामले में यह गौरतलब है कि यह एक नए प्रकार की संरचना थी। लेकिन, भारतीय राजगीर कामगारों ने इस नए प्रकार को जल्दी ही अपना लिया। लोक निर्माण एक अन्य श्रेणी थी, जिसने वास्तुकला को समकालीन परिस्थितियों के हिसाब से ढाला। *सरायों* के रूप में एक नई शैली भी उभर कर आई जिसने जल्दी ही अपने को इस परिदृश्य पर स्थापित कर लिया। इमारतों के इन सभी प्रकारों ने मध्यकालीन भारत की दृश्यात्मक संस्कृति को समृद्ध बनाया है।

18.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 18.2
2) देखें भाग 18.3
3) देखें भाग 18.3

बोध प्रश्न-2

1) देखें भाग 18.4
2) देखें भाग 18.4
3) देखें भाग 18.4

बोध प्रश्न-3

1) देखें भाग 18.5
2) देखें भाग 18.6
3) देखें भाग 18.6

बोध प्रश्न-4

1) देखें भाग 18.7
2) देखें भाग 18.8
3) देखें भाग 18.8

18.11 शब्दावली

बाबली	सीढ़ीदार कुएँ
दरगाह	किसी संत की मज़ार या मुस्लिम उपासना स्थल
मिहराब	मक्का की दिशा बताने वाला ताक़
मक़बरा	मज़ार / कब्रगाह
पैटियो (patio)	एक वर्गाकार बरामदा
कलमदान	कब्र की चपटी सतह पर कलम के केस की शक्ल की एक छोटी सी पत्थर की आकृति
क़िबला	मस्जिद में नमाज़ की दिशा (भारत में पश्चिम)

18.12 संदर्भ ग्रंथ

ब्राउन, पर्सी, (1942) *इंडियन आर्किटेक्चरः इस्लामिक पीरियड* (बॉम्बेः डी.बी. तारापोरेवाला एंड कंपनी).

बर्टन-पेज, जे., (2008) *इंडियन इस्लामिक आर्कीटेक्चर* (लाइडनः ब्रिल).

मर्कलिंगर, एलिजाबेथ स्कॉटेन, (2005) *सल्तनत आर्कीटेक्चर ऑफ प्री-मुगल इंडिया* (नई दिल्लीः मुंशीराम मनोहर लाल पब्लिशर्स).

मिशेल, जॉर्ज, (संपा.) (1978) *आर्किटेक्चर ऑफ द इस्लामिक वर्ल्डः* इट्स हिस्ट्री एंड द सोशल मीनिंग (लंदनः टेम्स एंड हडसन).

नाथ, आर., (1978) *हिस्ट्री ऑफ सल्तनत आर्किटेक्चर* (नई दिल्लीः अभिनव पब्लिकेशंस).

18.13 शैक्षणिक वीडियो

द अनटोल्ड स्टोरी ऑफ तुगलकाबाद फोर्ट
https://www.youtube.com/watch?v=xqpXnw_kC0o

आदिलाबाद फोर्ट – जहानपनाह
https://www.youtube.com/watch?v=xgTKcnEDNNA

हिडन फोर्ट इन दिल्ली
https://www.youtube.com/watch?v=obq5sqWbARU

सिकन्दर लोदीज़ टोम्ब
https://www.youtube.com/watch?v=iHfgE-Wn3R8

इकाई 19 चित्रकला*

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 दिल्ली सल्तनत के अधीन चित्रकला

19.2.1 भित्ति चित्रों के साहित्यिक प्रमाण

19.2.2 *कुरान लेखन* की सुलेखन कला

19.2.3 पांडुलिपि चित्रण

19.3 क्षेत्रीय राज्यों के अधीन चित्रकला

19.3.1 पश्चिम भारतीय शैली

19.3.2 *चौरपंचशिका* शैली

19.3.3 प्रांतीय गतिविधियाँ

19.3.4 दक्खनी चित्रकला

19.4 सारांश

19.5 शब्दावली

19.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

19.7 संदर्भ ग्रंथ

19.8 शैक्षणिक वीडियो

19.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आपः

- दिल्ली सल्तनत में प्रचलित चित्रकारी की परंपरा को जान सकेंगे, और
- दिल्ली सल्तनत के बाहर विकसित चित्रकला के प्रकार एवं परम्पराओं, मुख्यतः पांडुलिपि चित्रण, को स्पष्ट कर सकेंगे।

19.1 प्रस्तावना

वास्तुकला के विपरीत, दिल्ली सल्तनत में प्रचलित चित्रकारी की कला के विषय में अधिक सामग्री नहीं मिलती। हम जानते हैं कि बारहवीं शताब्दी के अन्त तक इस्लामी दुनिया में सुलेखन (calligraphy) की कला एवं पांडुलिपि-चित्रण (book-illumination) अपनी चरमसीमा पर था। गज़नी शासन में भी दीवारों पर अलंकारिक चित्रकारी (murals) की विकसित परम्परा मौजूद थी। संभव है कि यही परम्परा प्रारंभिक तुर्की सुल्तानों द्वारा दिल्ली लाई गई हो, जहां यह तेरहवीं और चौदहवीं सदी में फली-फूली।

इस इकाई में हम दिल्ली सल्तनत के दौरान चित्रकला की विभिन्न शैलियों के बारे में पढ़ेंगे। इस इकाई के विभिन्न भागों में चित्रकला के विकास को पूर्व, पश्चिम एवं मध्य भारत के साथ-साथ दक्खन के क्षेत्रों में देखने का प्रयास भी किया गया है।

* प्रो. रविन्द्र कुमार, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

यह इकाई हमारे पाठ्यक्रम ई.एच.आई.-03: *भारतः 8वीं सदी से 15वीं सदी तक* के खंड 8, इकाई 31 और 32 से ली गई है।

19.2 दिल्ली सल्तनत के अधीन चित्रकला

सल्तनत काल में चित्रकला का इतिहास वास्तुकला की तुलना में अंधकारमय है। इसका मुख्य कारण दिल्ली सल्तनत के प्रथम सौ वर्षों में किसी नमूने का अवशेष न मिलना है।

सचित्र ग्रंथों की अनुपस्थिति भी इतनी ही आश्चर्यजनक बात है। यह कला इस्लामी दुनिया में 1200 तक अपने चरमोत्कर्ष पर थी। फिर भी, शोधकर्ताओं ने पिछले 20-25 वर्षों में नए तथा कुछ ऐसे महत्वपूर्ण तथ्यों को खोज निकाला है जिसने इतिहासकारों को अपने विचार पूरी तरह से बदलने पर मजबूर कर दिया है। हमें अब पता चला है कि न सिर्फ सचित्र पुस्तकें बल्कि भित्ति चित्रों की परंपरा भी सल्तनत काल में मौजूद थी। इस तरह से चित्रकला को निम्नलिखित प्रमुख तीन भागों में बाँट सकते हैं जिन पर हम अलग-अलग चर्चा करेंगेः a) भित्ति चित्र b) *कुरान* लिखने की सुलेखन कला, और c) पांडुलिपि चित्रण।

19.2.1 भित्ति चित्रों के साहित्यिक प्रमाण

भित्ति चित्र सल्तनत काल में एक विकसित कला थी। इस पर गहन दृष्टि डालने के लिए इसके बहुत से साहित्यिक प्रमाण इस समय के इतिहास में मिलते हैं। इन्हें साइमन डिग्बी (1967) ने संकलित एवं विश्लेषित किया है।

सल्तनत काल में भित्ति चित्र के प्रारंभिक प्रमाण एक कसीदा (*तबकात-ए नासिरी*) में है जो इल्तुतमिश की प्रशंसा में 1228 में खलीफा से उसे उपहारस्वरूप *खिल्लत* मिलने के अवसर पर लिखा गया था। इस कविता की पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि मुख्य *मेहराब* के चाप स्कंध (spandrels) पर चित्रित जानवर एवं मानव आकृतियाँ खलीफा के दूत के स्वागत के लिए बनाई गई थीं।

चित्रकला का सबसे महत्वपूर्ण अकेला प्रमाण अफीफ की *तारीख-ए फिरोज़शाही* में फिरोज़ शाह तुगलक द्वारा दिल्ली सल्तनत के पूर्ववर्ती शासकों की गैर-इस्लामी प्रवृत्तियों पर रोक लगाने से संबंधित है। इससे पता चलता है कि दिल्ली के महलों की दीवारों पर आकृति चित्रित करने की परंपरा बराबर अस्तित्व में थी जिस पर फिरोज़ तुगलक ने रोक लगा दी थी।

चित्रकला की यह परंपरा सिर्फ भित्ति चित्र तक ही सीमित नहीं थी। कुतबुद्दीन मुबारक खलजी (1316-1320) द्वारा दी गई मनोरंजक पार्टियों से संबंधित एक प्रमाण से पूर्ण रूप से चित्रकारी किए हुए खुले तंबुओं का वर्णन मिलता है। इससे पता चलता है कि सजावट रंगीन कपड़ों पर रही होगी (*नूह सिपहर*, अमीर खुसरो द्वारा रचित)।

इसके विपरीत, आम लोगों के घरों में भित्ति चित्र की परंपरा थी, विशेषकर गैर-मुस्लिम घरों में। यह निम्नलिखित तथ्यों से सिद्ध होता हैः

- मौलाना दाऊद द्वारा कृत 14वीं शताब्दी की हिंदी कविता *चंदायन* (जो 1379-1380 में लिखी गई थी) में वर्णित एक पद में घर में रंगीन सज्जापूर्ण ऊपरी कक्षों का वर्णन है जिसमें चंदा, कविता की नायिका, अपनी सखियों के साथ सोती है।
- इस कविता की 15वीं शताब्दी में चित्रित पांडुलिपि के एक चित्र में चंदा के शयनकक्ष को दिखाया गया है, जिसकी दीवारों पर *रामायण* के दृश्य चित्रित किए गए हैं।

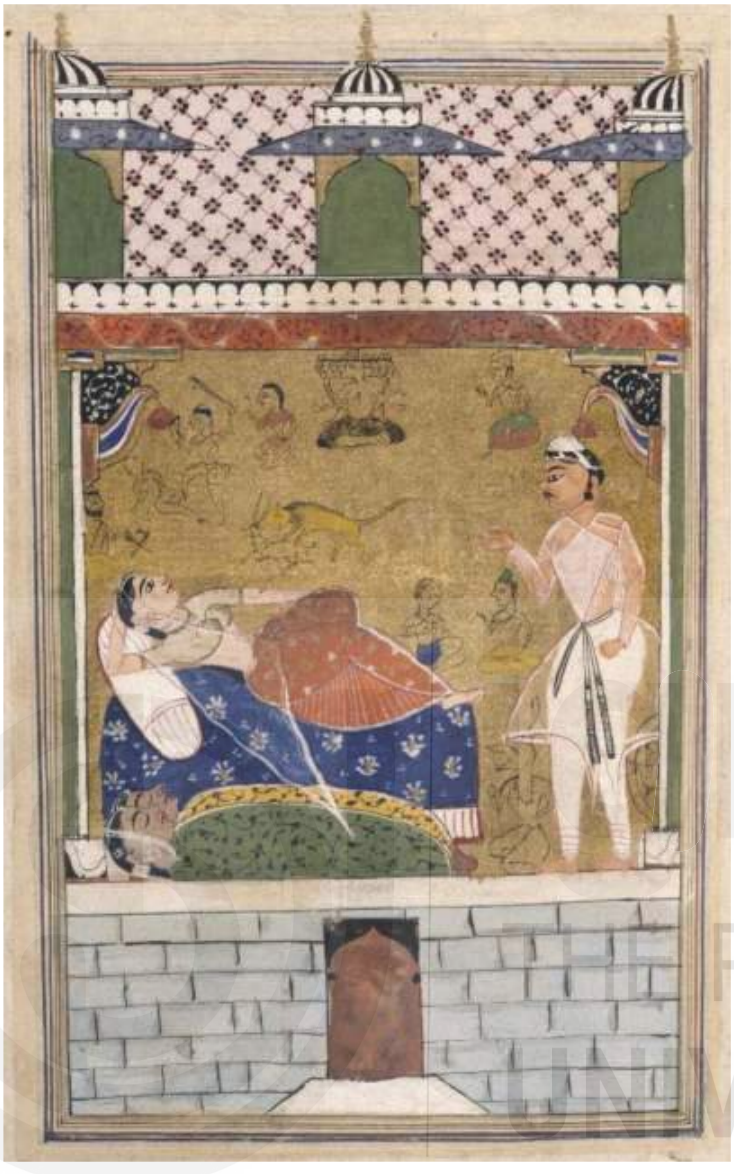

चित्र 19.1: लौर चंदा, 16वीं शताब्दी

साभार: John Rylands Library Special Collection, The University of Manchester (Hindustani Ms. 1) Under (CC BY-NC-SA 4.0)

स्रोत: https://rylandscollections.com/2016/04/29/the-laur-chand-an-indian-sufi-romance/

19.2.2 *कुरान* लेखन की सुलेखन कला

इस्लामी संसार में सुलेखन की कला को एक पवित्र कला माना जाता था जिसका प्रयोग कागजों एवं पत्थरों पर सजावट के लिए किया जाता था। हस्तशिल्पियों में सुलेखक को पांडुलिपियों को सजाने वाले एवं चित्रकार से ऊपर रखा गया। लेकिन *कुरान* का सुलेखन पुस्तक कला का एक महत्वपूर्ण रूप बन गया जहाँ *कुरान* की प्रतिलिपियाँ भव्य और व्यापक पैमाने पर बनाई गईं।

कुरान की प्रथम प्रतिलिपि 1399 की है। यह ग्वालियर में सुलेखित की गई थी। इसमें ईरानी तथा भारतीय स्रोतों से ग्रहण किए गए नाना प्रकार के अलंकारिक प्रतिमान हैं। इस हस्तलिपि के अग्र पृष्ठ का ज्यामितीय चित्र सल्तनत शैली का प्रतीत होता है जिससे स्पष्ट होता है कि 14वीं शताब्दी में दिल्ली की चित्रशालाओं की निम्नलिखित विशेषताएँ थीं:

- यह ईरानी परंपरा से संबंधित है।

- शीर्षकों और पट्टिकाओं के अभिलेखों में प्रयुक्त *कुरान* की लिखावट ज्यादातर कूफी शैली की है।
- अग्र पृष्ठ के ज्यामितीय चित्रों का चित्रण इस शैली की विशेषता थी।

चित्र 19.2: *कुरान* का बिहारी लिपि का एक पृष्ठ, *सूरत अल-फलक*, भारत, लगभग 1450-1500

साभार: British Library Blog by Vivek Gupta, Historian of Islamic and South Asian Art, SOAS, University of London

स्रोत: https://blogs.bl.uk/.a/6a00d8341c464853ef0240a4687081200c-pi

15वीं शताब्दी में सैय्यद और लोदी वंश में पुस्तक कला की दशा खिन्न अवस्था में थी क्योंकि यह बड़े पैमाने पर कलापूर्ण प्रयासों को संरक्षण देने में असमर्थ रहे। ऐसा प्रतीत होता है कि इन प्रयासों को प्रांतीय शासकों द्वारा अपनाया गया।

19.2.3 पांडुलिपि चित्रण

सल्तनत काल में ग्रंथ चित्रण एक अत्यधिक विवादपूर्ण विषय रहा है। इसकी शब्दावली एवं उत्पत्ति पर विद्वानों के मध्य सहमति नहीं है। इसलिए सल्तनत काल के पांडुलिपि चित्रण की व्याख्या की विशेषताओं को निश्चित करना बड़ा ही जटिल कार्य है। इसके विपरीत यद्यपि अत्यधिक संख्या में फारसी और अवधी में, 1400 से मुगलों के आगमन तक कई ग्रंथ चित्रण मिलते हैं। इनमें से कुछ हस्तलिपियाँ प्रांतीय दरबारों में चित्रित हुई प्रतीत होती हैं। फिर भी, ऐसी विशेष पांडुलिपियों का भी समूह है, हालांकि वे संख्या में कम हैं, जिनका किसी दरबार से कोई संबंध नहीं है। यह संरक्षकों के लिए स्वतंत्र रूप से तैयार की हुई प्रतीत होती हैं, लेकिन सल्तनत काल में ही तैयार की गई होंगी। कभी-कभी इनको 'बुर्जुआ समूह' प्रतिनिधित्व करने वाली के रूप में परिभाषित किया जाता

है और इनका काल 1450-1500 माना जाता है। 'बुर्जुआ समूह' को प्रस्तुत करने वाली दो हस्तलिपियां *हमज़ानामा* और *चंदायन* हैं।

हमजानामा (बर्लिन)

यह पांडुलिपि लगभग 1450 की है। इसमें पैगम्बर के साथियों में से एक अमीर हमज़ा की शौर्य गाथाओं को चित्रित किया गया है (1570 के *हमज़ानामा* से एक पृष्ठ नीचे दर्शाया गया है)

चित्र 19.3: गुप्तचर ज़ान्बूर माहिया को तवारीक़ शहर लाते हुए; *हमज़ानामा* से एक पृष्ठ; लगभग 1570, केशवदास द्वारा चित्रित

साभार: मैट्रोपॉलिटन म्यूज़ियम ऑफ आर्ट; https://www.metmuseum.org/search-results?ft=Hamzanama& x=12&y=0

Credit Line: Rogers Fund, 1923

स्रोत: https://www.metmuseum.org/art/collection/search/447743?searchField=All&sortBy=Relevance&ft=hamzanama&offset=0&rpp=20&pos=6

चंदायन (बर्लिन)

यह पांडुलिपि 1450-1470 सी ई के मध्य की है। इसमें दो प्रेमियों लौर और चन्दा के रोमांस का वर्णन है। इसकी रचना 1389 में उत्तर प्रदेश में स्थित राय बरेली के निकट दलमऊ के मौलाना

दाऊद ने की थी। यह हिन्दी की अवधी बोली में रचित है (1525-1570 के मध्य चित्रित *चंदायन* का एक पृष्ठ नीचे दर्शाया गया है)।

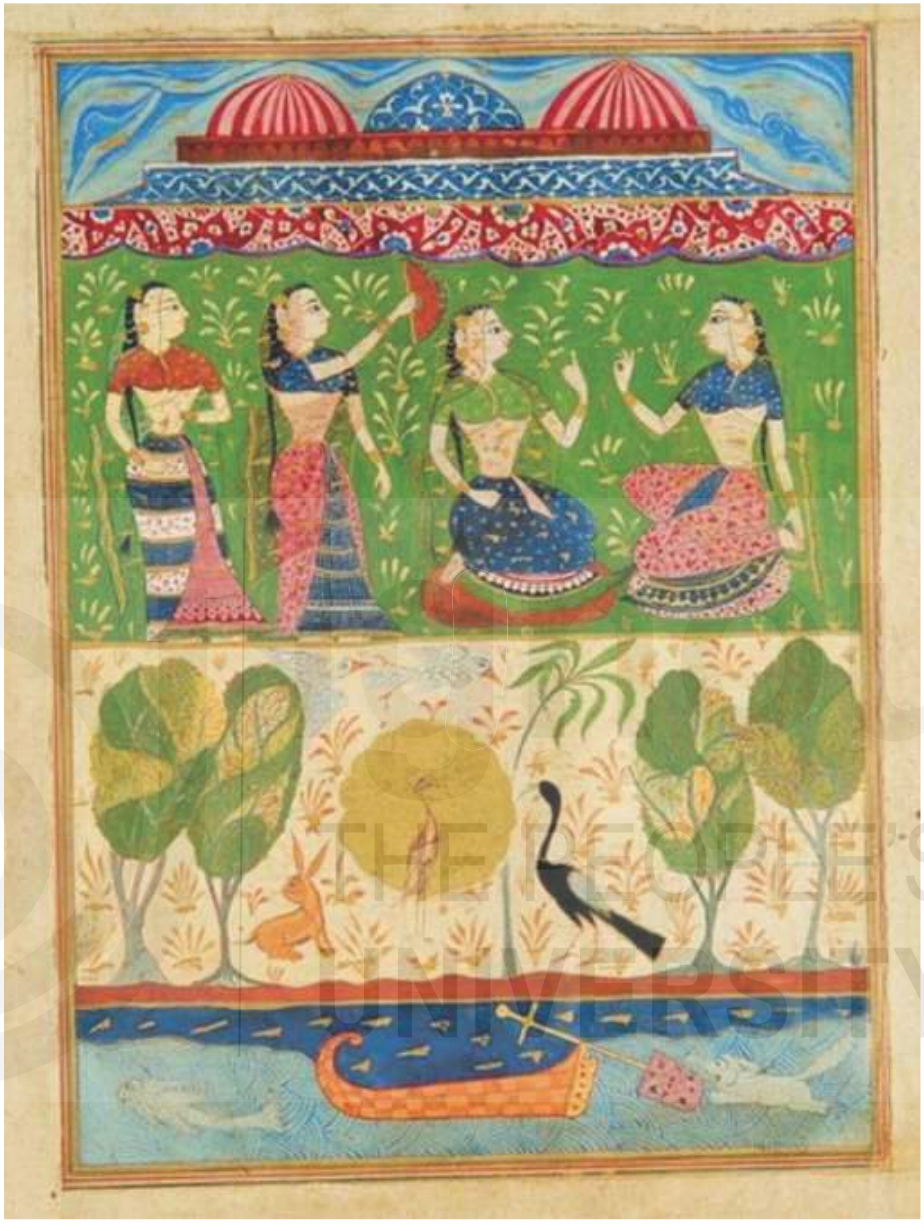

चित्र 19.4: अपनी सेहली से बात करती चंदा, लगभग 1525-1575; *लौर चंदा/चंदायन* से एक पृष्ठ

साभार: छत्रपति शिवाजी महाराज वास्तु संग्रहालय (CSMVS), मुंबई, भारत

स्रोत: https://artsandculture.google.com/asset/chanda-talking-to-aÑfriend/9gEqv3ApZhCQ7w?ms=%7B%22x%22%3A0.5%2C%22y%22%3A0.5%2C%22z%22%A8.54647761448455%2C%22size%22%3A%7B%22width%22%3A3.792128017967435%2C%22height%22%3A1.2375000000000003%7D%7D

बोध प्रश्न-1

1) दिल्ली सल्तनत में भित्ति चित्र परम्परा का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

2) भारत में सबसे पहले *कुरान* की प्रतिलिपि कब और कहाँ बनाई गई?

.....

.....

.....

3) चित्रकारी के 'बुर्जुआ समूह' को परिभाषित कीजिए।

.....

.....

.....

19.3 क्षेत्रीय राज्यों के अधीन चित्रकला

दिल्ली सल्तनत में चित्रकला के ह्रास के बावजूद भारतीय चित्रकला की पुरानी परम्परा मध्य काल में क्षेत्रीय राज्यों में फली-फूली। क्षेत्रीय राज्यों में सुंदर चित्रों के रूप में इसके प्रमाण काफी संख्या में उपलब्ध हैं। चित्रकला की यह परम्परा क्षेत्रीय वर्गीकरण से परे है। इसको विभिन्न शैलियों के विकास की दृष्टि से समझा जा सकता है। शैलियों के विकास की दृष्टि से इसे विभिन्न उप-भागों में बाँटकर इसका निम्न प्रकार से अध्ययन किया गया है।

19.3.1 पश्चिम भारतीय शैली

क) **जैन चित्रकलाः** उपलब्ध पांडुलिपियों से यह पता लगता है कि पश्चिमी भारतीय शैली का उद्‌भव और विकास 12वीं सदी के प्रारंभ में हुआ। ये गुजरात एवं राजस्थान के जैन *भण्डारों* (ग्रन्थालयों) में पायी जाती हैं। लेकिन ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि ये सभी पांडुलिपियाँ न तो जैनियों की हैं और न ही धार्मिक प्रवृत्ति की हैं और न ही इन्हें अलग क्षेत्रीय श्रेणी में रखा जा सकता है। इसे पश्चिम भारतीय शैली इसलिए कहा जाता है क्योंकि ये अधिकांशतः गुजरात, राजस्थान तथा मालवा से प्राप्त हुई हैं। जैन भी केवल पश्चिम भारत तक सीमित नहीं थे। हमें कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण चित्रित पांडुलिपियाँ जौनपुर और ईदर जैसे दूरस्थ स्थानों से भी मिलती हैं।

पश्चिम भारत की शैली की प्रारंभिक जानकारी ताड़ के पत्तों पर उपलब्ध पांडुलिपियों से मिलती है वे *पोथी* प्रारूप में उपलब्ध हैं जिसमें दो या तीन पंक्तियों में लिखी सामग्री मिलती है जो कि पत्तों की लम्बाई एवं चौड़ाई पर निर्भर करती थी। 13वीं सदी में ताड़ के पत्तों को छोड़कर कागज का उपयोग किया गया। इससे हाशियों पर चित्र बनाने के लिए काफी स्थान मिल जाता था। प्रारंभ में कागज पर लिखी गई पांडुलिपियों के आकार भी ताड़ के पत्तों के आकार के समान थे, धीरे-धीरे पृष्ठ की लम्बाई बढ़ाई गई। किन्तु *पोथी* प्रारूप को बदलने का कोई प्रयास नहीं किया गया।

14वीं सदी के अन्त तक पश्चिम भारतीय शैली का पूर्ण विकास हो गया। 14वीं सदी के मध्य में कागज की पांडुलिपि का लगातार प्रयोग किया गया लेकिन ताड़ के पत्ते को भी पूर्ण रूप से नहीं छोड़ा गया। इस शैली के कुछ प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं:

- चित्रकला का विकास पांडुलिपियों पर हुआ है जो एक ही सतह पर बनी हैं और कभी-कभी एक सुस्पष्ट लेकिन ज्यादातर टूटी हुई लकीर से बनाई गई हैं। चित्रों की पृष्ठभूमि अधिकांशतः लाल या नीली है।
- कागज की सतह की सजावट जवाहरात की तरह चमकीली की गई है जिसमें मूल्यवान रंगों का प्रयोग किया गया जैसे सोना, चाँदी, लाजवर्दी, किरमिज़ी, इत्यादि।
- वास्तुकला के केवल अत्यावश्यक तत्वों का प्रयोग किया गया है जिसमें छोटी धार्मिक आकृतियों, जानवर तथा घरेलू फर्नीचर, आदि को ज्यामितीय स्वरूप में छोटे खानों में सजाया-संवारा गया है।
- बड़ी आँखें, उभरा हुआ धड़, बैठी हुई स्थिति में पैरों की कष्टकारक अवस्था, इत्यादि इस चित्रकला की विशेषताएँ हैं। देखने में पुरुष एवं औरत में भेद करना कठिन है।

चित्र 19.5: महावीर का जन्म: *कल्पसूत्र* पांडुलिपि का एक पृष्ठ, जौनपुर, *c.* 1465
साभार: मैट्रोपॉलिटन म्यूज़ियम ऑफ आर्ट (Guy, John, 'Jain Manuscript Painting', in Heilbrunn Timeline of Art History, New York: The Metropolitan Museum of Art, 2000 - http:www.metmuseum. org/toah/hd/jaim.html(January 2012)
स्रोत: https://images.metmuseum.org/CRDImages/as/original/DT6940.jpg

पांडुलिपियों का ध्यान से अध्ययन करने के बाद पता चलता है कि यह पाटन तथा अहमदाबाद के जैन केन्द्रों पर बड़ी मात्रा में तैयार की गई थीं और केवल ऊपरी तौर पर समृद्ध दिखाई देती हैं। पेशेवर चित्रकारों द्वारा अपने विशिष्ट संरक्षकों के लिए बनाई गई पांडुलिपियाँ संख्या में बहुत कम पर बहुत सुंदर हैं।

चित्र 19.6: विशिष्ट श्वेताम्बर मठ-पोशाक में पदासीन और हाथ में तुलसी माला पकड़े गौतमस्वामिन; 15वीं शताब्दी (ब्रिटिश लाइब्रेरी or 2126A)
स्रोत / साभार: https://a4.typepad.com/6a017ee66ba427970d01b8d1a46514970c-pi

इनमें से कुछ ही पांडुलिपियों से कलाकारों के विषय में जानकारी मिलती है। अधिकांशतः पांडुलिपियों पर लिखने वाले व चित्र बनाने वाले व्यक्ति भिन्न हैं। लिखने वालों ने कई स्थानों पर चित्र बनाने वालों के लिए खाली स्थान छोड़े हैं और निर्देश लिखे हैं कि इन खाली स्थानों में क्या चित्र बनाने हैं।

ख) **'हिन्दू' चित्रकलाः** हिन्दू चित्रकला में जैन परम्परा की महत्वपूर्ण विशेषताएँ शामिल हैं जैसे बाहर निकली हुई या उभरी हुई आँखें, शरीर के विकृत रूप, सपाट रंगों का प्रयोग, आदि जो 15वीं सदी की 'हिन्दू' पांडुलिपियों तथा बौद्ध पांडुलिपियों के दो उदाहरणों में भी देखने को मिलता है। अतः इनके लिए एक संकीर्ण नामकरण अनुचित है। विकल्प के अभाव में हम इस गलत नाम का ही प्रयोग यह सोचकर कर रहे हैं कि जैन चित्रों के बनाने वाले भी 'हिन्दू' ही थे।

उत्तर भारत में मुस्लिम शासन के प्रारंभिक काल से ताड़ के पत्तों पर किसी 'हिन्दू' पांडुलिपि का उद्धरण नहीं मिलता, लेकिन नेपाल में इस प्रकार की पांडुलिपियों का मिलना इस बात की ओर इंगित करता है कि भारत में भी ऐसी पांडुलिपियाँ तैयार की गई होंगी।

19.3.2 *चौरपंचशिका* शैली

चौरपंचशिका वह पांडुलिपि है जो कश्मीरी कवि बिल्हण की कृति है जो बिल्हण द्वारा उस समय कलमबद्ध की गई जब वह राजकुमारी से प्रेम के अपराध में मृत्यु दंड की प्रतीक्षा कर रहा था। यहां वह अपने बेदर्द अनुराग का लयबद्ध रूप में गुणगान कर रहा है।

चौरपंचशिका की चित्रकला केवल कहीं-कहीं ही मूल विषय से संबंधित है।

चौरपंचशिका की उत्पत्ति के संदर्भ में संदिग्धता बनी हुई है लेकिन यह माना जाता है कि 15वीं एवं 16वीं शताब्दी में किस्सागोई एवं सजावट के रूप में इस चित्रकला का विकास हुआ। चित्रकला की ये पांडुलिपियाँ जैन परंपरा की तरह नहीं हैं किन्तु इनकी उत्पत्ति कहाँ और कब हुई के विषय में विवाद है। ऐसा प्रतीत होता है कि *चौरपंचशिका* पांडुलिपियों का विकास मानव सिर को विभिन्न दिशाओं में मोड़कर परिवर्तित रूप में चित्रण एवं आंखों के उभरेपन में कमी वाले चित्रों के चित्रण के ज्ञान के बाद ही हुआ है।

चित्र 19.7: चम्पावती के सम्मुख खड़ी चौरा

साभार/स्रोतः https://in.pinterest.com/pin/229402174748886212/;http://image.slidesharecdn.com/ chaurapanchsika-140422115429-phpapp02/95/chaurapanchasika-paintings-2-638.jpg?cb=1398167720

चौरपंचशिका शैली की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

- सभी चित्र आयताकार हैं जिसकी दूसरी ओर लिखाई की गई है। ये वस्तुतः पश्चिम भारतीय *पोथी* पद्धति की ही विरासत है।
- पश्चिम भारतीय शैली की उभरी हुई आँखों की जगह एक विशिष्ट कोण से बना चेहरा तथा एक बड़ी आंख उसका स्थान ले लेती है।
- चित्र एक ही सतह पर हैं जिनमें चमकीले प्राथमिक रंगों की पृष्ठभूमि का प्रयोग किया गया है।

चौरपंचशिका शैली में सुंदरता का अपना स्थान है जिसमें कलाकारों की ललित कल्पनाशक्ति तथा नाटकीय ढंग से रंगों का प्रयोग अत्यंत मनमोहक है। कई बार व्यक्तियों को किसी क्रिया में रत चित्रित किया गया है (**चित्र 19.8** में दिखाया गया है)। भारतीय चित्रकला में यह एक दुर्लभ उपलब्धि है। इनकी विशिष्टता की तुलना भारतीय चित्रकला में केवल कुछ ही से की जा सकती है।

चित्र 19.8: *चौरपंचशिका* पांडुलिपि से एक पृष्ठ

स्रोत/साभार: https://in.pinterest.com/pin/229402174748886219/;https://www.seitz-orchha-malwa.com/img/fig-1_7-vol-1-p-81.jpg

19.3.3 प्रांतीय गतिविधियाँ

क) सुलेखन

i) **जौनपुर:** जौनपुर में सुलेख का विकास 15वीं सदी के उत्तरार्द्ध तथा 16वीं सदी की शुरुआत में हुआ। इस शैली की *कुरान* की पांडुलिपियों में निम्नलिखित विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं:

- बिहारी लिपि,
- जवाहरात के रंग जो मूल विषय के लेखन के हांसियों में प्रयोग हुए हैं, और
- इसके डिज़ाइनों में *अरबेस्क* और बेलें और विषय-वस्तु में मौलिक अलंकृत चाप स्कंध (medallions) देखने को मिलता है।

ii) **अहमदाबाद शैली:** अहमदाबाद शैली का विकास महमूद बेगड़ा के समय हुआ है। यह गुजरात में करीब 50 वर्षों तक प्रचलित रही (लगभग 1425-75)। इस शैली में *कुरान* की लिखावट के लिए जिस लिपि का प्रयोग किया, वह *सुलूथ* (Suluth) के नाम से जानी जाती है। यह लिपि मध्य पूर्व के क्षेत्र में अध्यायों के शीर्षक और अभिलेखों के लिए प्रयोग की जाती थी। यह सर्पाकार (serpentine) तथा अपरिवर्तित लिपि है। जब 15वीं सदी में भारत में इसे अपनाया गया तब इसका स्वरूप ऊँचा, खड़ा, झुकाव लिए और अग्रगामी वृत्ताकारी सुलेख में बदल गया।

ख) पांडुलिपि का चित्रांकन

पांडुलिपियों में चित्रों द्वारा सजावट की कला का विकास 13वीं-15वीं शताब्दी के बीच ईरान में राजकीय संरक्षण में हुआ।

इस प्रकार के ईरानी प्रभाव की सबसे महत्वपूर्ण पांडुलिपियों का काल 1420-50 तक माना जाता है। इनकी उत्पत्ति का स्थान बंगाल है न कि दिल्ली। 1500 के लगभग यह और अधिक स्पष्ट हो जाता है। माँडू की कुछ पांडुलिपियों, जिनकी अवधि 1490-1510 है, पर ईरानी शैली का स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है (**चित्र 9.9 क** और **ख देखें**)। मालवा के खलजी सुल्तान संभवतः ईरान के कलाकारों और पांडुलिपियों को मंगवाया करते थे तथा इस शैली का अनुकरण किया जाता था।

चित्र 19.9: पांडुलिपि चित्रण

क) गुडियाएँ (*बॉदजन*) शादियाबादी कृत *मिफ्ताह अल-फुज़ला*, माँडू, लगभग 1490, 5.9 x 6.8 cm (ब्रिटिश लाइब्रेरी, Or. 3299, f. 51v)

साभार: British Library (Vivek Gupta, PhD History of Art at SOAS, University of London; Postdoctoral Associate in Islamic Art at the University of Cambridge based at the Centre of Islamic Studies (from September 2020); and former doctoral placement at BL Asian and African Collections

स्रोत: https://blogs.bl.uk/.a/6a00d8341c464853ef0263ec2102ee200c-pi

ख) यो-यो (*फरमूक, लट्टू*) शादियाबादी कृत *मिफ्ताह अल-फुज़ला*, माँडू, लगभग 1490, 7.6 x 7.6cm (ब्रिटिश लाइब्रेरी, Or. 3299, f. 212v)

साभार: British Lirary (Vivek Gupta, PhD History of Art at SOAS, University of London; Postdoctoral Associate in Islamic Art at the University of Cambridge based at the Centre of Islamic Studies (from September 2020); and former doctoral placement at BL Asian and African Collections

स्रोत: https://blogs.bl.uk/.a/6a00d8341c464853ef0264e2e17d95200d-pi

इस शैली की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

- पृष्ठ पर क्षैतिज आकार या वर्गाकार चित्र,
- विषय-वस्तु के कॉलम पृष्ठ के नीचे की ओर हैं, और
- चित्रकला की यह परम्परा चित्रकार के लिए व्यापक क्षेत्र प्रदान करती है तथा चित्रों के बीच खाली स्थान एक सामंजस्य स्थापित करते हैं।

19.3.4 दक्खनी चित्रकला

दक्खन में अहमदनगर, बीजापुर तथा गोलकुण्डा में 15वीं सदी के अंत में तथा 16वीं सदी के शुरू में एक विशिष्ट शैली का विकास हुआ। यह वास्तव में मुगल चित्रकला से पहले की शैली है और कहा जाता है कि प्रारंभ में इसने मुगल चित्रकला को प्रोत्साहित किया। पीले, गुलाबी, हरे, भूरे, बैंगनी तथा नीले रंगों के कलात्मक सामंजस्य का प्रयोग तथा दक्खनी वस्त्रों, आदि की उपस्थिति इस शैली की उपस्थित के द्योतक हैं।

दक्खन की चित्रकला ईरानी सहित कई स्रोतों पर आधारित है। जब हम इसकी खास विशेषताओं का विश्लेषण करते हैं तो यह स्पष्टतः प्रतिबिम्बित होता है:

- इस शैली में सामान्यतः चेहरों का तीन चौथाई भाग रंगा जाता है,
- नीचे के भाग टहनियों या फूलों की पंखुड़ियों से सजाये जाते हैं,
- एक अन्य विशेषता भवनों को सपाट, पर्देनुमा पट्टिकाओं के रूप में बनाना है (**चित्र सं. 19.10 क, ख** को देखें),
- अन्य विशिष्ट ईरानी प्रभाव स्वर्णिम आकाश का होना है, और
- कुछ चित्रों पर चीनी प्रभाव भी देखने को मिलते हैं जिनमें गुलाबी तथा हरे फूलों के पौधे, कमल तथा गुलदाउदी, इत्यादि हैं।

चित्र 19.10: क) मैना चिड़िया के साथ एक स्त्री, गोलकुंडा, दक्खन स्कूल, *c.*1605

साभार: Chester Beatty Libraryhttp://www.harekrsna.com/sun/features/12-11/ features 2319. htm

स्रोत: https://upload.wikimedia.org/wikipedia/commons/4/46/Lady_with_the_Myna_Bird.jpg

चित्र 19.10: ख) सुल्तान इब्राहिम आदिल शाह II, बीजापुर, *c.*1590-1595; सेंट पीटर्सबर्ग एलबम से एक पृष्ठ; चित्रकार: फर्रूख बेग

साभार: Institute of Oriental Studies, St. Petersburg

स्रोत: https://upload.wikimedia.org/wikipedia/commons/b/b4/Farrukh_Beg._Sultan_Ibrahim_Adil_Shah_II_Khan_hawking._Page_from_St._Petersburg_Album._Bijapur_ca.1590-95_%2828%2C7x15%2C6cm%29_Institute_of_ Oriental_Studies_St._Petersburg.jpg

1) पश्चिम भारतीय शैली के चित्रों के संग्रह कहाँ प्राप्त होते हैं?

.....

.....

.....

2) पश्चिम भारतीय शैली तथा *चौरपंचशिका* शैली में प्रमुख अंतर क्या है?

.....

.....

.....

3) *चौरपंचशिका* शैली के चित्रों के दो महत्वपूर्ण विदेशी तत्व बताइए।

.....

.....

.....

4) प्रांतीय शासकों के अधीन पांडुलिपियों को चित्रित करने की तीन प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

5) दक्खन से प्राप्त चित्रों के आधार पर इस शैली के इस्लामी परम्परा से पहले से मौजूद होने के विषय में तर्क दीजिए।

.....

.....

.....

19.4 सारांश

भित्ती चित्रों की जीवंत परंपरा, जिसकी प्रेरणा गज़नवी शासन से ग्रहण की, दिल्ली सल्तनत में कम से कम 1350 तक जीवित रही। इस परंपरा में *महाभारत* और *रामायण* की पौराणिक कथाओं से लेकर अन्य लोकप्रिय लोक-कथाओं तक का भंडार है। दूसरी प्रधान परंपरा जो इस काल में उभरी, वह थी सचित्र पांडुलिपि चित्रण। लेकिन यह दरबारी संरक्षण से स्वतंत्र थी इसलिए इन्हें 'बुर्जुआ' कहा जाता है। पांडुलिपि की सचित्र व्याख्या एवं *कुरान* लेखन की कला तैमूर के आक्रमण तक ही फली-फूली। इस पर ईरानी शैली का प्रभाव पूरी तरह हावी रहा। यह परंपरा 1398 (तैमूर द्वारा दिल्ली की लूट का काल) के बाद जल्दी ही नष्ट हो गई लेकिन यह प्रांतीय दरबारों में फली-फूली और अंकुरित हुई।

- आकृति चित्रण की परंपरा भित्ति चित्र एवं कपड़े पर चित्रकारी के रूप में 13वीं और 14वीं शताब्दी में शुरू हुई जिसकी प्रेरणा गज़नवी राज्य से मिली।
- कूफ़ी भाषा में *कुरान* के सुलेखन की समकालीन परंपरा भी 1398 (दिल्ली में तैमूर की लूटपाट के समय) तक जीवित रही। यह कला भारत में कागजों के प्रचलन के साथ विकसित हुई।
- दूसरी परंपरा फ़ारसी एवं अवधी पांडुलिपि की सचित्र व्याख्या की थी जो शायद 15 वीं शताब्दी के शुरू में आरंभ हुई और शाही दरबारों से अलग स्वतंत्र रूप से विकसित हुई।

दिल्ली सल्तनत के विपरीत क्षेत्रीय राज्यों में चित्रकला का समुचित विकास हुआ। यहाँ चित्रकला और वास्तुकला दोनों समान रूप से विकसित हुईं। चित्रकला के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि पश्चिम भारत में कागज पर लिखी जाने वाली पांडुलिपि थी जिससे पांडुलिपि का चित्रांकन सहज हो गया। जैन परम्परा में पुस्तक लिखने की कला तथा पुस्तकालयों ने चित्रकला के क्षेत्र में एक नया आयाम दिया जिससे एक विशिष्ट चित्रकला का विकास हुआ जिसे पश्चिमी शैली कहते हैं। *चौरपंचशिका* के रूप में एक अन्य नई शैली विकसित हुई जिसे किसी क्षेत्र विशेष में सीमित नहीं

किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, हमें इस काल में क्षेत्रीय राज्यों में सुलेखन की कला का विकास *कुरान* तथा पांडुलिपि चित्रिण के रूप में देखने को मिलता है।

अतः क्षेत्रीय राज्यों में कला के हमारे अध्ययन क्षेत्र में निम्न बिन्दु अधिक महत्वपूर्ण हैं:

- संरचनात्मक भिन्नता तथा क्षेत्रीय शैली का विकास,
- पांडुलिपियों की सजावट के नये रूप, और
- उत्तरी एवं दक्षिणी शैली का विकास।

19.5 शब्दावली

भित्ति चित्र दीवार पर की गई चित्रकला

भंडार जैन पुस्तकालय

पोथी ताड़-पत्र शैली की कागज़ पर नकल

19.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें उप-भाग 19.2.1
2) देखें उप-भाग 19.2.2
3) देखें उप-भाग 19.2.3

बोध प्रश्न-2

1) देखें उप-भाग 19.3.1
2) देखें उप-भाग 19.3.1 और 19.3.2
3) देखें उप-भाग 19.3.2
4) देखें उप-भाग 19.3.3
5) देखें उप-भाग 19.3.4

19.7 संदर्भ ग्रंथ

ब्राउन, पर्सी, (1932) *इंडियन पेंटिंग* (नई दिल्लीः एसोसिएशन प्रेस).

डिग्बी, साइमन, (1967) 'द लिटरेरी एविडेंस फॉर पेंटिंग इन द दिल्ली सल्तनत', *बुलेटिन ऑफ द अमेरिकन एकेडमी ऑफ बनारस*, भाग I, पृ. 47-58.

19.8 शैक्षणिक वीडियो

इंडियन पेंटिंग्स ड्यूरिंग द सल्तनत पीरियड
https://www.youtube.com/watch?v=ELWOkLpZl40

पेंटिंग्स ऑफ इंडिया – मैजिक ऑफ द दक्खन
https://www.youtube.com/watch?v=Jzu9DM8f0J8

पेंटिंग्स ऑफ इंडिया – द डेलिकेट ब्यूटी ऑफ मिनएचर
https://www.youtube.com/watch?v=KzTbYkp_FRg

IGNOU SOCIAL MEDIA

QR Code -website ignou.ac.in

QR Code -e Content-App

QR Code - IGNOU-Facebook
(@OfficialPageIGNOU)

QR Code Twitter Handel
(OfficialIGNOU)

INSTAGRAM
(Official Page IGNOU)

QR Code -e Gyankosh-site

QR Code generated for quick access by Students

IGNOU website

eGyankosh

e-Content APP

Facebook (@offical Page IGNOU)

Twitter (@ Offical IGNOU)

Instagram (official page ignou)

Like us, follow-us on the University Facebook Page, Twitter Handle and Instagram

To get regular updates on Placement Drives, Admissions, Examinations etc.

ISBN : 978-93-91229-67-2